आचार्य तुलसी

खोए सो पाए

संपादिका : साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

मूल्य · छह रुपये/प्रथम सस्करण १९८१/प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रवधक :
आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)/मुदक · भारती प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

स्वकथ्य

पतझर की छाँह मे विश्राम करते मधुमास को देखकर आश्चर्य होना अस्वाभाविक नही है। पहाडी झरनो के उन्मुक्त हास मे मौन उदासी का साया देखकर विस्मय होना अस्वाभाविक नही है। मृत्युजयी तप साधना के परिसर मे उद्धतभाव से डोलते हुए मरण-भय को देखकर चकित हो जाना अस्वाभाविक नही है। इसी प्रकार विवेक के दीवट पर प्रज्वलित अशान्ति और तनाव की लौ को देखकर मैं बार-बार किसी गहरे सोच-विचार मे खो जाता हू। ससार मे जितने प्राणी है, उन सबने विवेक-चेतना का जागरण जितना मनुष्य मे हो सकता है, कही नही हो सकता। इसी दृष्टि से मैंने मनुष्य-जीवन को विवेक रूप मे प्रतीक बनाकर निरूपित किया है।

आज का मनुष्य बहुत ही अशान्त, क्लान्त और अस्थिर जीवन जी रहा है। उसके चारो ओर अपरम्पार तनाव का सागर लहरा रहा है। तनाव की यह बीमारी ऐसी बीमारी है, जिसकी चिकित्सा किसी वैद्य या डॉक्टर के पास नही है। चिकित्सा-जगत मे आज बहुत नई शोध हो रही है। वैज्ञानिक उपकरणो के माध्यम से डॉक्टरो ने टी० बी० जैसी असाध्य बीमारी पर नियत्रण पा लिया है। कैंसर पर नियत्रण पाने के लिए तीव्र प्रयत्न हो रहा है। किन्तु यह टेंशन की बीमारी इतनी व्यापक और गंभीर होती जा रही है कि इस पर नियत्रण पाने का कोई उपाय नही सूझ रहा है। सभव भी नही लगता है कि डॉक्टर इस दिशा मे किसी चिकित्सा-विधि को आविष्कृत कर सकें। क्योकि यह बीमारी मूलत शारीरिक नही है। मन और मस्तिष्क पर जब गहरा दबाव पडता है, तब इसका असर

शरीर पर होता है। यह ऐसी गूढ बीमारी है, जो किसी बाह्य उपाय से नियन्त्रण मे नही आ सकती।

तनाव की इस भयकर बीमारी के शमन का एक ही उपाय है—योग-साधना। योग के क्षेत्र मे भी आज अनेक प्रकार के प्रयोग चल रहे है। प्रेक्षा ध्यान-साधना उन प्रयोगो मे अपना विशिष्ट स्थान बनाती जा रही है। क्योकि यह पद्धति सहज और सरल होने के साथ-साथ विलक्षण भी है। इसकी विलक्षणता का एक बिन्दु यह है कि अन्यान्य साधना पद्धतियो मे कुछ करना पडता है, वहा यह कहती है छोडो। चलना छोडो, बोलना छोडो और तो क्या सोचना भी छोड दो। मन को अमन बनाओ, तभी अमन को पा सकोगे। यह ऐसी पद्धति है जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियो से उपयोगी है। प्रेक्षा-ध्यान-शिविरो मे इस पद्धति के सम्बन्ध मे पूरा प्रशिक्षण दिया जाता है और उसके प्रयोग कराए जाते है। युवाचार्य महाप्रज्ञ इस काम मे सम्पूर्ण रूप से संलग्न है। उनके निर्देशन मे यह पद्धति उत्तरोत्तर विकसित होती जा रही है। इस सबध मे अच्छे स्तर का साहित्य भी तैयार हो गया है। हमारे साधु-साध्विया और अन्य साधक भी इस आत्म-हित और मानवीय-हित की प्रवृत्ति मे जुडे हुए है। मेरे मन मे भी इसके प्रति कम आकर्षण नही है। क्योकि मैं प्रयोग मे अधिक विश्वास करता हू। मैंने अपने जीवन मे और अपने तेरापथ-धर्मसघ मे अनेक प्रकार के प्रयोग किए है। प्रत्येक प्रयोग के परिणाम से मुझे नई दिशा और नया प्रकाश मिलता है।

सात वर्ष पूर्व हिसार चातुर्मास (सन् १९७३) मे मैंने ध्यान और जप की दृष्टि से सत्ताईस दिन का एक विशेष प्रयोग किया था। उस समय अध्ययन और लेखन की दृष्टि से प्राय सभी प्रवृत्तिया स्थगित थी, फिर भी उन दिनो जो विशेष अनुभव होते, उन्हे मैं लिपिबद्ध कर लेता था। उसके बाद लाडनू और दिल्ली के साधना-केन्द्रो मे हुए प्रेक्षा-शिविरो मे भी प्राय प्रतिदिन साधको को सम्बोधित करना होता था। उन सब विचारो को सकलित और व्यवस्थित कर साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा एक दिन मेरे पास ले आई। बिना किसी निर्देश या सकेत के उसने अपनी रुचि से मेरे उन विचारो को झेला, सजोकर रखा और सम्पादित कर प्रस्तुत कर

दिया। इस सकलन का नाम रखा गया है 'खोए सो पाए'। यह नाम भी साधना की दृष्टि से वहुत भावपूर्ण है। क्योकि साधना की पहली शर्त है अह का विसर्जन। जिस व्यक्ति का अह पुष्ट होता है, वह ग्रहणशील नही हो सकता। प्रयत्न करके भी कुछ पा नही सकता। कवीर ने अपने अनुभव के आधार पर लिखा—जिन खोजा तिन पाइया। जिसने खोज की उसने पाया। किन्तु मेरे अभिमत से खोजने से भी आगे की वात है अपने आपको खो देने की। जो साधक अपने लक्ष्य के प्रति खो जाता है, विगलित हो जाता है, वह सव कुछ पा लेता है। वीज अपने अस्तित्व को खोता है, तभी अकुरित हो पाता है। वूद अपने अस्तित्व को खोती है, तभी समन्दर वन पाती है। इसी प्रकार जहा साधक और साधना का अद्वैत घटित होता है, वही परम सत्य का साक्षात्कार हो सकता है, अत साक्षात्कार हो सकता है। साधक के सामने इससे अधिक कुछ प्राप्य है, मैं नही मानता। 'खोए सो पाए,' को पढने वाले साधक अपने आपको पूर्ण रूप से खोना, विलीन करना सीख लें, यह उनके जीवन की सवसे वडी उपलब्धि हो सकती है।

सुजानगढ
१ दिसम्बर, १९८०

आचार्य तुलसी

सम्पादकीय

आचार्यश्री का चिन्तन एक अनिर्वार युगधारा का सहगामी है। उनके प्रयोग सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना को समानातर जागृत करने वाले है। उनके जागरण की प्रक्रिया आत्म-जागरण मे विश्व मानव को जगाने की दिशा मे आगे बढने की प्रक्रिया है। सामाजिक चेतना को जागृत करनेके लिए उन्होंने एक अभियान चलाया, जिसकी पहचान अणुव्रत के नाम से हो रही है। आध्यात्मिक चेतना के जागरण की दृष्टि से प्रेक्षाध्यान साधना का उपक्रम चल रहा है। कुछ ही वर्षो के प्रयोग से प्रेक्षाध्यान के प्रति लोक-जीवन मे जो रुझान बढा है, वह उसकी उपयोगिता की पहली कसौटी है। आचार्यश्री अध्यात्म-सम्पदा की पौध को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है। उनके चिन्तन और कर्म मे अध्यात्म की पुट गहरी होती जा रही है। उनके पलक पृष्ठो पर अकित अध्यात्म की परिभाषाओ को पढने मे साधक को नई दिशा मिलती है। मानव समाज के अनुक्षण बदलते मूल्य-मानको के बीच मे मौलिक और शाश्वत मूल्य की प्रस्थापना कर उन्होने एक नई दृष्टि दी है। आचार्यश्री केवल स्वप्नद्रष्टा और चिन्तक ही नही है वे एक सफल प्रयोक्ता भी है।

प्रसिद्ध विचारक हेनरी डेविड थोरो ने एक दार्शनिक की पहचान देते हुए लिखा है—'दार्शनिक होने का अर्थ सूक्ष्म चिन्तन करना मात्र ही नहीं है और न ही है अपने चिन्तन-सम्प्रदाय की प्रस्थापना। किन्तु ज्ञान के निर्देशानुसार सरलता, स्वतन्त्रता, उदारता और विश्वास का जीवन जीना है। आचार्यश्री के जीवन मे यह तत्त्व-चतुष्टयी पूर्ण रूप से प्रतिविम्बित मिलती है। उनके जीवन मे ही नही, साहित्य मे भी इन तत्त्वो की सचोट अभिव्यक्ति है।

'खोए सो पाए' उनकी एक साहित्यिक कृति है, पर उसका सृजन साहित्यिक परिवेश से दूर आत्मलीनता के क्षणों मे हुआ है। इसलिए उसमे साहित्यिक निखार कम है और साधना के तत्त्व अधिक है। साधना के तत्त्व जव अनुभव चेतना के द्वार से अपने अस्तित्व को व्यक्त करते हैं, तव और अधिक प्रभावी हो जाते है।

अनुभव या सस्मरण साहित्य की एक रोचक विधा है। साहित्य-रसिक व्यक्ति साहित्य की सभी विधाओ से लाभान्वित हो सकता है, फिर भी रुचि-भेद के कारण आकर्षण मे तारतम्य हो जाता है। सस्मरणात्मक साहित्य पढने मे सरस और सुरुचिपूर्ण होता है उसी प्रकार प्रेरक और मार्ग-दर्शक भी होता है। सस्मरणो के साथ अनुभवो की प्रौढता का योग उस साहित्य को विशिष्ट वना देता है। जिस साहित्य मे साधना की पुट हो वह और अधिक उन्नत हो जाता है।

कुछ साहित्यकार अपने साहित्य मे प्राचीन मूल्यो, विचारो और धारणाओ के परिवेश को प्रमुखता देते हैं। प्राचीनता के नाम से हमारा विद्रोह नही होना चाहिए किन्तु जहा साहित्यकार की स्वाधीन मनोवृत्ति, उसकी अपनी रसानुभूति और सवेदनशीलता का शोषण होता हो वह साहित्य साहित्यकार को सन्तोष नही दे सकता।

आचार्यश्री तुलसी की साहित्यिक मनीषा किसी निर्धारित परिवेश से जकडी हुई नही है। वे एक साहित्यकार है, किन्तु उससे पहले साधक है। उनकी दृष्टि मे साधना जीवन को जीवन्त वनाए रखती है। और वह किसी रूढ अनुष्ठान से आवद्ध नही है उनकी साधना का स्वरूप है—

- चैतन्य की अनुभूति का क्षण...
- जीवन परिमार्जन का क्षण...
- अहकार और ममकार के विसर्जन का क्षण...
- वर्तमान मे जीने का वोध...
- जागरण का प्रथम क्षण...
- मूर्च्छा की ग्रन्थि तोडने का क्षण...
- सृजन का क्षण...

इस स्वरूप निर्धारण के आधार पर वे समय-समय पर विशेष प्रयोग

करते रहते है। इस दृष्टि से उनका जीवन विशिष्ट प्रयोगशाला है। हिसार-चातुर्मास(सन् १९७३) के मध्य उन्होने एक विशेष प्रयोग किया। हर प्रयोग के साथ अनुभूतियो की सम्पदा बढती है। उसे सहजकर रखा जाए तो वह प्रयोक्ता के लिए प्रेरणादायी बनती ही है, दूसरे लोगो के लिए भी बिना आयास प्राप्त उपलब्धियो की तरह् सम्बल बन जाती है। इस प्रयोग-काल मे आचार्यश्री ने बौद्धिक स्तर पर और चेतना के स्तर पर बहुत कुछ अनुभव किया है। अनुभव की सारी बातें बताने और लिखने की नही होती। अन्तर्जगत की अनुभूतियो को पूरी अभिव्यक्ति मिल भी नही सकती। फिर भी आचार्यश्री ने अनुग्रह करके अपना मौलिक चिन्तन और मौलिक अनुभव हमारे लिए सुरक्षित रखे है। साधनाशील व्यक्ति साधनाकाल मे समागत बाधाओ और विक्षेपो पर विजय पाने के लिए इनसे विशेष सम्बल तथा प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। अनुभव के साथ चिन्तन का भी अपना मूल्य है। चिन्तन के दो रूप है—प्रथम रूप मे चिन्तनशील व्यक्ति आप्त चिन्तन और आप्त प्रथाओ को केन्द्रबिन्दु मानकर उसी परिधि मे अपने चिन्तन को विस्तार देता है। चिन्तन के दूसरे रूप मे पारम्परिक मूल्यमानको की तलाश नही रहती। वहा व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से नई स्थापनाए करता है। आचार्यश्री न तो आप्तप्रथाओं को नकार कर चलते है और न ही युगीन मानदण्डो की उपेक्षा करते हैं। उन्होने मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए बदलाव का मार्ग प्रशस्त किया है। इस दृष्टि मे उनके विचारो मे अनेकान्त की स्पष्ट झलक मिलती है। प्रेक्षाध्यान शिविरो मे भी उन्होने इसी चिन्तन-शैली से साधको को उपकृत किया है। ध्यान-शिविरो मे प्रदत्त उनके विचारों को सकलित करने का सौभाग्य मुझे मिला, इसे मैं अपने जीवन की एक उपलब्धि मानती हू।

परमाराध्य आचार्यप्रवर के अनुभवो का आलोक हमारी जीवन-यात्रा मे प्रकाश-स्तम्भ का काम करे, हम अपने अज्ञात भविष्य को उस आलोक मे आलोकित करते रहे और उनकी चिन्तन धाराओं मे निष्णात होकर अपने मन का कल्मष धोते रहे, हमारे लिए यही श्रेयस्कर है।

सुजानगढ
३ दिसम्बर, १९८०

—साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

अनुक्रम

ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः

जरा मरण वेगेन वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तम ॥
धम्मो मगल मुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो ।
देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो ॥

सतत प्रवाही पानी का स्रोत अपने साथ कुछ दूसरी चीजो को भी वहाकर ले जाता है। तीव्रगामी स्रोत को रोकना या उसमे प्रवाहित पदार्थो को निकाल पाना सहज काम नही है। इसी प्रकार जरा और मृत्यु का एक प्रवाह अनादिकाल से वह रहा है। आज तक वह कभी रुका ही नही। उस प्रवाह मे ससार के समस्त प्राणी वहते जा रहे है। वे चाहते है कि हम स्थिर हो जाए अथवा प्रवाह से एक ओर हटकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित करें, पर उन्हे कोई आधार नही मिल रहा है। इसलिए वे रुकना चाहकर भी रुक नही पा रहे हैं। प्रश्न हो सकता है कि उस प्रवाह मे कही रुकने के लिए आलम्वन है या नही ? आलम्वन तो है ही, पर है अत्यन्त सूक्ष्म। उसे पहचानकर पकड पाना भी एक जटिल कार्य है। वह आलम्व है धर्म। धर्म इस केप्रवाह ससार मे बहते हुए प्राणियो के लिए द्वीप है, प्रतष्ठिा है, गति है और उत्तम शरण है। धर्म से वढकर ससार मे दूसरा कोई आधार नही है। अर्हत पुरुपो ने उस धर्म को सर्वोत्कृष्ट मगल वताया है।

धर्म क्या है ? उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है—अहिंसा, सयम और तप यह त्रिवेणी-सगम धर्म है। अहिंसा का अर्थ है समता। 'अहिंसा सर्व भूतेषु समता' प्राणी मात्र के प्रति आत्मौपम्य की

भावना का विकास ही धर्म की सबसे बडी कसौटी है। इस कसौटी पर उत्तीर्ण होने वाला व्यक्ति सयम की ओर गति करता है। सयम का अर्थ है 'आत्मरमण'। आत्मरमण के बाद अपेक्षा रहती है पुरुपार्थ की। क्योकि धर्म के क्षेत्र मे अकर्मण्यता को कही स्थान नही है। तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा विजातीय तत्त्वो से लोहा लेने वाला व्यक्ति ही धर्म को जीवनगत कर सकता है। समता, आत्मरमण और पुरुपार्थ अथवा अहिंसा, सयम और तप धर्म का स्वरूप है। इस त्रिवेणी मे स्नात होकर जो व्यक्ति विशुद्ध बन जाता है, वह देवो के लिए भी नमस्य बन जाता है। धर्म की आराधना इसलिए नही होती कि देव आकर नमस्कार करे, पर धर्मवान् पुरुप को देवो द्वारा नमन एक स्वाभाविक घटना है। देवता नमस्कार करे या नही, पर जिस व्यक्ति को पवित्र और स्वस्थ बनना है, उसे धर्म की शरण मे आना ही होगा।

प्रश्न हो सकता है कि धर्म की शरण स्वीकार करने का अर्थ है एक छोटे से कटघरे मे कैद हो जाना। मनुष्य मे तो सहज मुमुक्षा होती है, वह इस कटघरे मे क्यो आएगा? प्रश्न अस्वाभाविक नही है। व्यापक दृष्टिकोण से सकीर्ण दायरे मे प्रवेश करने की बात ऐसी ही है, पर यह भी आवश्यक है। प्रारम्भ मे हर व्यक्ति को सुरक्षा की अपेक्षा रहती है। क्योकि वह चारो ओर से भयभीत है। उड्ढ सोया अहे सोया तिरिय सोया वियाहिया। भय आने का स्रोत ऊपर भी है, नीचे भी है और तिरछे भी है। ऐसी स्थिति मे अभय की साधना के लिए किसी सुरक्षित स्थान की जरूरत रहती है। जितने समय तक सुरक्षा की अपेक्षा है, किसी-न-किसी कटघरे को स्वीकार करना है, फिर तो मुक्त अवकाश है ही।

अमेरिका का धनाढ्य व्यक्ति हेनरी फोर्ड ट्रेन से यात्रा कर रहा था। उसे जहा ठहरना था, वह एक बडा शहर था। उसमे ठहरने के लिए स्थान की व्यवस्था हेतु फोन से सम्पर्क किया। उसे बताया गया कि उस दिन उस शहर मे कोई स्थान खाली नही है। कोई विशेप फक्शन है, इसलिए सारे होटल और रेस्ट-हाउस बुक हो गए है। हेनरी चिंतित था। क्योकि उसके पास काफी मात्रा मे करेंसी थी। वह कुछ सोच ही रहा था, इसी समय ट्रेन रुक गई। वह नीचे उतर कर जाने लगा। प्लेटफार्म पर उसे टिकिट दिखाने के लिए कहा गया। वह कुछ बोला नही। टिकिट मास्टर ने

समझा इसने बिना टिकिट ट्रेनयात्रा की है। उसने पुलिस को फोन किया। पुलिस उसे पकडकर ले गई। रात का समय था, इसलिए उसे हवालात मे वन्द कर दिया।

दूसरे दिन प्रात काल पुलिस अधिकारी वहाँ आए। उन्होंने पूछा—यह व्यक्ति यहा किस अपराध मे आया है ? एक पुलिसमैन ने कहा—सर ! इसने विना टिकिट ट्रेन यात्रा की है। अधिकारी ने हेनरी से पूछा—तुम्हारा टिकिट कहाँ है ? हेनरी ने जेब से निकाल कर टिकिट दिखा दिया। पुलिस के आदमी एक-दूसरे का मुह देखने लगे। उससे पूछा गया कि कल तुमने टिकिट क्यो नही दिखाया। हेनरी वोला—महोदय ! मुझे किसी सुरक्षित स्थान मे रात वितानी थी। होटलो मे स्थान था नही। ऐसी स्थिति मे मुझे कोई भी स्थान इससे अधिक सुरक्षित नही लगा। यहाँ मैं रात-भर निर्भय होकर नीद लेता रहा। अव मुझे जाना है, यह लीजिए टिकिट।

हेनरी फोर्ड के लिए जेल पूर्णत निर्भयता और सुरक्षा का स्थान था। इसी प्रकार हमारे लिए धर्म सुरक्षा का स्थान है। धर्म की शरण मे पहुचने के वाद हमारे सामने कोई खतरा नही रहता। खतरे की आशका समाप्त होने के वाद हम सर्वथा अभय होकर अपनी मजिल की ओर प्रयाण कर सकते है, धर्म की आराधना कर सकते है। हम जिस धर्म की आराधना करना चाहते है, वह रूढ और परम्परागत धर्म नही, जीवत धर्म है।

वह धर्म क्या है ? यह वताने की नही, अनुभव करने की वात है, पाने की वात है। मैं वर्षो से सोचता था कि मनुष्य धर्म के नाम पर भटकता क्यो है ? सोचते-सोचते ही मुझे समाधान मिला कि अव तक सही रूप मे धर्म मिला ही नही है। जिस दिन उसे धर्म उपलब्ध हो जाएगा, वह भटकेगा नही, धर्म से कतराएगा नही। भूखा व्यक्ति कभी भोजन से कतराता है क्या ? प्यासे व्यक्ति को पानी मिल जाए तो वह इधर-उधर क्यो भटके ? वीमार व्यक्ति को चिकित्सा के साधन उपलब्ध हो तो वह उनसे दूर क्यो भागे ? जव भूखे, प्यासे और वीमार व्यक्ति को भोजन, पानी तथा चिकित्सा नही मिलती है, तव उसे इधर-उधर भटकना पडता है।

धर्म के परम्परागत परिवेश मे हमने एक नए तत्त्व को खोजने का प्रयास किया। वर्षो के प्रयास से हमे जो नया तत्त्व मिला, उसको हमने

धर्म के नाम से नही, प्रेक्षा के नाम से जनता के सामने प्रस्तुत किया है। प्रेक्षा का अर्थ है देखना। और किसी को नही, अपने-आप को गहराई से देखना। यह अभिनव धर्म की साधना है। इसके लिए ही आप लोग शिविर मे उपस्थित हुए है। यहा साधना करने से सही तत्त्व मिल जाएगा तव सारा ससार ही नीरस लगने लगेगा। आदि शकराचार्य के शब्दो मे ज्ञाते तत्त्वे क ससार ? तत्त्व को समझ लिया फिर ससार मे आसक्त होने का प्रश्न ही नही उठता। यहा प्रेक्षा ध्यान की साधना मे जाति, वर्ग, वर्ण, लिंग, सम्प्रदाय सव कुछ गौण है, केवल आत्मा और मनुष्यता प्रमुख है। यहा आकर हर मनुष्य अपने-आप को समझे और अपने स्वरूप को उपलब्ध करे, शिविरार्थियो के प्रति मेरी यही शुभाशसा है।

४ सितम्बर, १९८०

प्रथम सोपान

दस दिनो की एक छोटी-सी यात्रा का आज पहला दिन है। इस यात्रा में हमारी मजिल है, मन का अनुशासन और उसके मध्यवर्ती पडाव है—इच्छा, आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा आदि का अनुशासन। इच्छानुशासन और मनोनुशासन के अन्तराल मे जितने पडाव है, वे सब मंजिल की दूरी को कम करने वाले है, इसलिए प्रत्येक पडाव पर सजगता से विश्राम कर आगे बढना है। आज हमे इच्छानुशासन पर विचार करना है, क्योकि हमारी यात्रा का प्रारम्भ यही से हो रहा है।

इच्छा पर अनुशासन की वात बहुत सुखद है, क्योकि आज सारा ससार इच्छाओ का दास वना हुआ है। इच्छाओ की दासता स्वीकार करने का जो परिणाम आ रहा है, वह किसी से अज्ञात नही है। इसलिए हर समझदार व्यक्ति चाहेगा कि मैं अपनी इच्छाओ को अनुशासित कर लूँ। इच्छाओ पर अनुशासन करने की इच्छा के सामने सवसे वडी विभीषिका है इच्छाओं की अनन्तता। आगमो मे कहा है—"इच्छा हु आगास समा अणतया "। जिस प्रकार आकाश का कोई छोर नही है, उसी प्रकार इच्छाओं की कोई सीमा नही है। वामन व्यक्ति उद्‌वाहु होने पर भी ऊँचे वृक्ष पर लगे फल को तोड नही सकता, कोई भी व्यक्ति भुजाओ मे आकाश को वाध नही सकता, इसी प्रकार अनन्त इच्छाओ का नियमन नही हो सकता। जो नही हो सकता, उस असभव काम मे हाथ डालना वुद्धिमत्ता नही है। इस दृष्टि से इच्छानुशासन की वात वुद्धिगम्य नही होती।

मुझे ऐसा लगता है कि तथ्य को एक कोण से पकडा गया है, यह वात जितनी सही है, उतनी ही सही यह वात भी है कि व्यक्ति मे इच्छाओ के

निरोध की शक्ति भी अनन्त है। हमने इच्छाओ को पकड लिया और निरोध की क्षमता को उपेक्षित कर दिया। यह समझ अधूरी समझ है। यह अधूरी समझ ही व्यक्ति को भटकाती है। समझ की पूर्णता तथ्य को हर कोण से पकडने मे है। मनुष्य जव तक अपने भीतर रही हुई क्षमताओ से परिचित नही होता है, वह वहुत वडा काम नही कर सकता।

युद्ध के मैदान मे सेनाएँ खडी है। दोनो पक्षो की सेनाए शस्त्रास्त्रो से लैस है। जन-वल और शस्त्रवल प्रवल होने पर भी वह सेना हार जाती है, जिसमे आत्मवल नही होता। रावण की वहुरूपिणी विद्या राम और लक्ष्मण के वाणो की वौछार के सामने टिक नही सकी। क्योकि आत्मवल के अभाव मे विद्या का वल व्यर्थ हो जाता है। विद्या, कला, मत्र, तत्र और देवी-शक्ति आत्मशक्ति की तुलना मे अकिचित्कर है। इसलिए हर साधक के मन मे यह भरोसा होना चाहिए कि इच्छाओ से भी अनन्तगुणित शक्ति उसकी अपनी आत्मा मे है।

तीर्थंकरो ने कहा है कि सही दृष्टिकोण से की गई क्रिया ही सफल होती है। दृष्टिकोण गलत है तो प्रयत्न करने पर भी सफलता नही मिलती। क्योकि दृष्टि सही न होने से व्यक्ति की आस्था गडवडा जाती है। आस्था का सूत्र हाथ मे है तो जीवन की पतग को आकाश मे वहुत ऊपर तक चढाया जा सकता है। आस्था की डोर हाथ से निकल जाने का अर्थ है अपने जीवन पर मे अपना नियत्रण खो देना। नियत्रण की क्षमता का विकास वह व्यक्ति कर सकता है, जिसका सकल्प प्रवल होता है। शिथिल सकल्प वाला व्यक्तित्व इच्छा की दासता का प्रतीक है।

जिस साधक का सकल्प-वल पुष्ट होता है, इच्छा शक्ति नियन्त्रित होती है, वह पदार्थ जगत को अपने अस्तित्व पर हावी नही होने देता। वह जानता है कि उसके जीवन मे इच्छा स्रोत वह रहा है, निरतर वह रहा है। उस वहाव का सम्वन्ध वाहर से कम और भीतर से अधिक है। वाहरी प्रभाव तो मात्र निमित्त है, उसके कारण इच्छाए व्यक्त होती हैं। इसलिए अवचेतन के जिस तल पर इच्छा की उत्पत्ति होती है, उसी तल पर उसे नियन्त्रित करने की अपेक्षा है, अनुशासित करने की अपेक्षा है। नियत्रण की यह शक्ति किसमे नही है। मेरे अभिमत मे हर व्यक्ति निरोध की शक्ति

से सपन्न है। उस शक्ति के उपयोग की क्षमता विकसित हो जाए तो फिर वह विवशता सामने नही आएगी कि अनन्त इच्छाओ पर अनुशासन कैसे किया जाए ? जिस व्यक्ति को अपने पर अनुशासन करने की कला सीखनी है, उसे प्रथम सोपान पर इच्छाओ का नियमन करना ही होगा।

४ सितम्बर, १९८०

खाना पशु की तरह : पचाना मनुष्य की तरह

हमारी आज की चर्चा का विषय है भोजन-सयम। भोजन ऐसा तत्त्व है, जो हर देहधारी प्राणी की अनिवार्य अपेक्षा है। मनुष्य भोजन करता है, क्योकि उससे उसको पोषण मिलता है। किन्तु हर भोज्य पदार्थ पोषक ही हो, यह जरूरी नही है। इसलिए भोजन के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विवेक-जागरण अपेक्षित है। भोज्य और अभोज्य का विवेक किए विना हर पदार्थ का उपयोग करने से शरीर मे वीमारियो का उद्भव हो जाता है। आयुर्वेद के अनुसार वीमारी के तीन कारण हैं—वात, पित्त और कफ। जव ये तीनो तत्त्व सम होते है, तो शरीर स्वस्थ रहता है। इनमे विषमता होते ही शरीर तत्र अव्यवस्थित हो जाता है, फलत अनेक प्रकार के रोग और आतक शरीर को आक्रान्त कर लेते है।

प्रश्न हो सकता है ध्यान-शिविरो मे स्वास्थ्य या भोजन की चर्चा क्यो ? वह तो चिकित्सा-शिविरो मे होनी चाहिए। वात सही है, पर हमे यह स्वीकार करना होगा कि स्वास्थ्य के विना ध्यान-साधना भी हो नही सकती। यदि हमे अपने चेतना के स्तर को विकसित करना है तो स्वास्थ्य को समझना ही पडेगा। स्वास्थ्य-वोध के लिए अधिक उलझन मे न जाकर इतनी-सी वात समझ ली जाए कि 'खाना पशु की तरह और पचाना मनुष्य की तरह' वस यही हमारे स्वास्थ्य का सवमे वडा राज होगा।

हम देखते है पशु जगत को। आरण्यक और पालतू—दोनो प्रकार के पशु हमारे सामने है। वे कितने कम पदार्थ खाते है, और मात्रा का कितना ध्यान रखते है। पेट भर जाने के वाद वे एक ग्रास भी खाना नही चाहते। कितना सतुलित और सादा भोजन होता है पशुओ का। उनके सामने

विविध प्रकार की वनस्पतियो के ढेर लग जाए, फिर भी वे अभक्ष्य को कभी नही खाएगे। मनुष्य क्या करता है ? न तो वह पदार्थो की सीमा रखता है और न मात्रा का ध्यान। पेट भरा है, फिर भी कोई मनोज्ञ पदार्थ सामने आ गया तो दो ग्रास खा लेने मे झिझक नही होगी। इसलिए जीवन का एक सूत्र होना चाहिए कि भोजन पशु की तरह हो।

भोजन करने के बाद उसका पाचन होता है। पाचन ठीक होता है तो रसो का स्राव अच्छी प्रकार होने लगता है अन्यथा भोजन लाभ के स्थान पर हानिकारक हो जाता है। इसलिए कहा गया है कि भोजन का पाचन मनुष्य की तरह होना चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य आमोद-प्रमोद करता है, प्रसन्न रहता है और श्रम करता है, इससे पाचन तत्र बिलकुल ठीक रहता है। प्रारभिक रूप मे भोजन के सम्बन्ध मे इतनी जानकारी से स्वास्थ्य को पाया जा सकता है और प्राप्त को सुरक्षित रखा जा सकता है। आगे की भूमिका मे इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से विवेक-जागृति की अपेक्षा रहती है।

विवेक पूर्ण रूप से जागृत न हो तो भोजन अनेक समस्याए उत्पन्न कर देता है। जिस भोजन से शरीर को पोषण मिलता है, वही शरीर का शोषण करने वाला बन जाता है। किस स्थिति और समय मे कौन-सा भोजन साधना और शरीर की दृष्टि से उपयोगी है, इस बात का ध्यान रखने वाला साधक अपने शरीर तत्रो को नियत्रण मे रख सकता है।

भोजन-सम्बन्धी समुचित जानकारी के अभाव मे कभी-कभी अनायास ही ऐसी बीमारिया हो जाती है, जिनके बारे मे कभी सोचा ही नही जाता। मातुश्री छोगाजी ने अपने जीवन मे बहुत तपस्या की। छियान्वे वर्ष की अवस्था तक उनकी तपस्या चलती रही। वर्षो तक उन्होने एकान्तर तप किया। तपस्या के साथ भोजन के प्रति उनकी इतनी अनासक्ति थी कि वे पारणे मे ठडा खिचडा और छाछ लिया करती थी। पता नही उनको किसने बताया कि नमक खाने से घुटनो मे बल रहता है, इसलिए नमक अधिक खाना चाहिए। मातुश्री ने इस बात को पकड लिया। वे छाछ और दही के मट्ठे मे अतिमात्रा मे अचित्त नमक मिलाकर लेने लगी। प्रत्येक पारणे मे ऊपर से नमक मिलाने का क्रम चलता रहा, परिणामस्वरूप उन्हे पक्षाघात

हो गया। इतनी तपस्या के साथ वृद्धावस्था मे पक्षाघात होने का प्रश्न ही नही उठता, पर किस खाद्य को कव ? कितनी मात्रा मे ? और कैसे ? लेना चाहिए, इस जानकारी के अभाव मे जो अवाछित परिणाम आता है, उसे टाला नही जा सकता।

साधना के सन्दर्भ मे भी भोजन का प्रश्न एक अहम् प्रश्न है। इस प्रश्न पर गहराई से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि हमारा शरीर भी अखाद्य को खाना पसन्द नही करता। अधिक मात्रा मे या अभक्ष्य पदार्थ खाने पर तत्काल विकृति हो जाती है, पर उसे अनदेखा कर देने से काम वढता है।

वहुत वार झूठे उपचार भी व्यक्ति को गलत रास्ते पर ले जाने मे निमित्त वनते है। औपचारिकता के कारण अच्छे को वुरा और वुरे को अच्छा कहने का फैशन भी चल पडा है। एक नवविवाहित पति अपनी नवोढा पत्नी द्वारा पहली वार वनाया हुआ भोजन कर रहा था। पत्नी देखने मे सुन्दर थी, पर पाककला मे दक्ष नही थी। उसने सव्जियो मे नमक और मिर्च अधिक डाल दी तथा चपातिया कच्ची रख दी। पति ने सोचा— आज पहली वार ही पत्नी की कमिया वताने लगा तो हमारे सम्वन्धो मे कटुता आ जाएगी। इसलिए वह भोजन की प्रशसा करता रहा। एक सव्जी में मिर्च इतनी अधिक थी कि उसकी आखो मे पानी वहने लगा। पत्नी ने पूछा—अरे ! आप रो क्यो रहे है ? पति वोला—ये तो खुशी के आसू है। तुम्हारे हाथ से वना हुआ इतना स्वादिष्ट भोजन जो मिला है। पत्नी खुश होकर वोली—थोडा और परोस दू ? पति झेंपता हुआ वोला—ना वावा ! इससे अधिक खुशी मैं सहन नही कर पाऊगा।

ये व्यर्थ के उपचार व्यक्ति को वर्वाद कर देते है। इसलिए औपचारिकता की दुनिया से ऊपर उठकर तथ्यो को समझना जरूरी है। खाद्य-सयम साधना की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इस सम्वन्ध मे अपनी जानकारी के धरातल को ठोस वनाकर कुछ प्रयोग करने की जरूरत है।

५ सितम्वर, १९८०

नियम को समझें

शरीर मे इन्द्रियो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योकि ये चेतना की अभिव्यक्ति की स्पष्ट निमित्त हैं। ससार के सभी प्राणियो मे एक, दो यावत् पाच इन्द्रिया होती है। इन्द्रियो का काम है अपने विषयो का ग्रहण करना। गृहीत विषय का सवेदन और उससे होने वाली निष्पत्ति के प्रति सजग रहना इन्द्रियो का काम नही है। गृहीत विपय की मनोज्ञता और अमनोज्ञता अधिकाशत मन पर ही निर्भर करती है। जीभ का काम है स्वाद चखना। अच्छा या बुरा जैसा भी रस सामने है, जीभ उसका स्वाद लेती रहेगी। वह स्वाद मन को अरुचिकर हुआ तो उससे तृप्ति नही मिलेगी। रुचिकर पदार्थ तृप्तिदायक होता है और उसे वार-वार खाने की इच्छा होती है। इस स्थिति मे क्या किया जाए ? क्या सरस पदार्थो को छोड दिया जाए ?

हा, एक मन्तव्य ऐसा ही है, जिस पदार्थ के सेवन से आसक्ति वढे, उस पदार्थ का सेवन नही करना चाहिए। "रसा पगाम न निसेवियव्वा" रसो का अधिक सेवन नही करना चाहिए, पर इसका अर्थ यह नही है कि रस मात्र का वर्जन कर देना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि स्वाद छोडने की जरूरत नही है, रसीले पदार्थ छोडने की भी जरूरत नही है, जरूरत है केवल अनुभूति वदलने की। दृष्टिकोण वदल गया और अनुभूति वदल गई तो रस भी अच्छे रूप मे परिणत हो सकता है और नीरस भी रस दे सकता है।

अध्यात्म का दृष्टिकोण यह नही है कि केवल सूखा भोजन खाना चाहिए। अध्यात्म कहता है—विवेक करो, शरीर और भोजन के नियम को समझो। नियम समझे विना कोई भी काम अच्छे रूप मे नही हो सकता।

नियम समझ लिया तो कुछ भी करो, कोई प्रतिवन्ध नही है। प्रतिवन्ध इसलिए नही है कि नियम समझने के वाद कोई गलत काम हो ही नहीं सकता।

हमारे शरीर तत्र मे दो नलिया एकदम पास-पास है—भोजन-नली और श्वास-नली। दोनो नलिया अपने-अपने नियमो से वधी हुई है। उन नियमो की अवहेलना कर कोई व्यक्ति भोजन-नली से श्वास लेना शुरू कर दे और श्वास-नली मे अन्न का छोटा-सा कण भी डाल दे तो जीना दूभर हो जाएगा। ऐसी नासमझी करने वाला व्यक्ति शरीर को पोपण देने के स्थान पर अपने जीवन को ही समाप्त कर देता है।

साधक को साधना के क्षेत्र मे आगे वढने का वोध देते हुए हमारे तीर्थकरो ने कहा है—

विभूसा इत्थि ससग्गी, पणीयरस भोयण,
नरस्सत्त गवेसिस्स, विस तालउड जहा।

आत्म-हित की गवेपणा मे प्रवृत्त साधक के लिए शरीर को, सजाना-सवारना, स्त्रियो के साथ ससर्ग करना और प्रणीत रस का भोजन करना तालपुट जहर के समान है। जिस प्रकार तालपुट जहर खाने वाला तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार उपर्युक्त दिशा मे वहने वाला साधक अपनी साधना से भ्रष्ट हो जाता है।

यह एक तथ्य है। इसकी भूमिका को न समझने वाला, साधना के नियम को न समझने वाला व्यक्ति कह सकता है कि यह दमन का मार्ग है। किन्तु नियम समझने के वाद वही व्यक्ति कहेगा कि साधना करनी है तो उसके लिए शरीर और मन को साधना ही होगा। मन सध जाए, फिर कैसा ही भोजन मिले। जीभ स्वाद के लिए आतुर नही रहेगी। भोजन सरस हो या नीरस, साधक अपनी सरसता न छोडे तो वह कभी नीरस हो ही नहीं सकता। अन्यथा सरस पदार्थ भी नीरस प्रतीत हो सकता है।

यह ऐसी वात है, जिसे तर्क के द्वारा नही समझा जा सकता। तर्क वौद्धिक व्यायाम है। अधिक तर्क एक प्रकार से शिरस्फोटन है। एक समय था, जव मै स्वय तर्कवाद को पसन्द करता था और उसके आधार पर अनेक तार्किको को परास्त भी किया था। पर अव तर्क मे मेरा कोई रस

नही रहा। आज कोई तार्किक व्यक्ति आता है तो मैं मौन हो जाता हू।

कुछ वर्ष पहले भिवानी मे आर्यसमाजी भाई आए और वोले हम आपके साथ शास्त्रार्थ करना चाहते है। मैंने पूछा क्यो? वडे ऋजु थे वे भाई, सहजभाव से वोले—हम आपको पराजित करने आए है। मै दो क्षण रुककर वोला—वस, इतना-सा काम है? शास्त्रार्थ किए विना ही मैं स्वीकार कर रहा हू कि मैं पराजित और आप विजयी, वोलिए अव क्या चाहिए? आगन्तुक लोग इस वात को सोच ही नही पाए। वे विस्मित होकर चले गए।

कुछ समय वाद मैं फिर भिवानी गया। वे आर्यसमाजी भाई स्वागत समारोह मे अगुआ होकर वैठे थे। मैंने उनको नही पहचाना। वे निकट आकर वोले—आचार्यजी! आप हमे जानते है? मेरी पहचान स्पष्ट नही थी, पर ऐसा लग रहा था कि उनको कही देखा है। वे मेरी असमजसता तोडते हुए वोले—हम वे ही है, जो उस समय आपको पराजित करने आए थे, पर आज आपके भक्त वनकर आए है।

मैंने अनुभव किया कि यदि मैं उनके साथ तर्कवाद मे उलझ जाता तो उनमे ऐसा अप्रत्याशित परिवर्तन नही हो पाता। तर्क सत्य की कसौटी नही है। वह पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व मे वदल सकता है, पर सत्य को नही पा सकता।

किसी शहर मे दो पण्डित थे। उनमे एक था आस्तिक और दूसरा था नास्तिक। रात्रि के समय एक-एक दिन दोनो पण्डितो की सभाए जुडती। आस्तिकता और नास्तिकता पर विशद चर्चा चलती। लोग दोनो की वातो को सुनते और उलझ जाते। आस्तिक पण्डित का प्रवचन सुनकर नास्तिक विचारधारा टिक नही पाती। किन्तु दूसरे दिन नास्तिक द्वारा उपस्थित की गई तर्क आस्तिकता को समूल उखाडकर फेंक देती। जनता हैरान हो गई। एक दिन कुछ समझदार लोगो ने मिलकर निर्णय किया कि हम न इधर के रहे न उधर के। पता नही दोनो पण्डितो मे कौन सही है और कौन गलत? ऐसी स्थिति मे हम इन दोनो पण्डितो मे ही शास्त्रार्थ क्यो न करवा दें? जिस पण्डित की विजय होगी, हम उसी पथ पर चल पडेंगे।

निर्णय के अनुसार एक सध्या के समय दोनो पण्डितो को आमन्त्रित

किया गया। दोनो विद्वान थे। दोनो ने अपने-अपने पक्ष मे तर्क प्रस्तुत किए। पूरी रात बीत गई। सूर्योदय हो गया। जनता शास्त्रार्थ का परिणाम जानने को उत्सुक थी। परिणाम क्या हुआ? आस्तिक पण्डित की तर्क सुनकर नास्तिक पण्डित आस्तिक हो गया और आस्तिक पण्डित नास्तिक के प्रभाव मे आकर नास्तिक हो गया। लोगो को परिणाम ज्ञात हुआ। वे बोले—इतना काम किया, पर हमारा सिरदर्द तो वैसा का वैसा रह गया।

ऐसी घटनाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि साधक जिज्ञासुभाव से किसी भी तथ्य को सुनने और समझने का प्रयत्न करे तो कृतार्थ हो जाता है। अन्यथा तर्कों की बीहड घाटी मे पग-पग पर खतरे का भय बना रहता है, और मजिल कही दूर छूट जाती है।

६ सितम्बर, १९८०

विसर्जन किसका ?

मुनि धर्म मे दीक्षित होने वाले साधक को दीक्षित होते ही एक आगम पढाया जाता है। नाम है उसका दशवैकालिक। उस आगम के दस अध्ययन है। दूसरे अध्ययन का नाम है—सामण्ण पुव्वय—साधुत्व की पृष्ठभूमि। प्रश्न हो सकता है—साधु वनने के वाद साधुत्व की पृष्ठभूमि वताने का क्या अर्थ ? यह तो ऐसी वात है, जिसका बोध साधु वनने से पहले होना चाहिए। प्रश्न ठीक है, पर हमारे आगम-पुरुषो ने जो क्रम निर्धारित किया है, वह अर्थहीन नही हो सकता। क्यो कि दूसरे अध्ययन मे धर्म मे धृति रखने का पथ सुझाया गया है। धृति की अपेक्षा तव होती है, जव सामने मुसीवते आती है। साधुत्व स्वीकार करने से पहले उस जीवन मे समागत मुसीवतो की कल्पना तो की जा सकती है, पर यथार्थ अनुभूति नही होती। कष्टो की अनुभूति और उस स्थिति की उपस्थिति के विना धृति कहा हो ? इस दृष्टि से प्रथम अध्ययन मे धर्म की प्रकृष्टता का प्रतिपादन है। उस प्रकृष्ट धर्म के पथ पर चलने वाले व्यक्ति को धृतिधारी होना चाहिए। क्योकि धैर्य के द्वारा ही वह अपने श्रामण्य को सफल कर सकता है। साधक मे धृति नही है तो—

> कह नु कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए ?
> पए-पए विसीयतो, सकप्पस्स वस गओ ॥

जो साधक कामना का निवारण नही करता है, और संकल्प-विकल्पो के वशीभूत है, वह पग-पग पर विपाद को प्राप्त होता है। विषाद-प्राप्त व्यक्ति श्रामण्य की आराधना कैसे करेगा ?

श्रामण्य की सफलता के लिए धृति की अनिवार्यता है। इसी प्रकार आत्म-दर्शन के लिए श्वास-दर्शन की अपरिहार्यता है। एक दृष्टि से श्वास-दर्शन आत्म-दर्शन का ही रूप है। जिस साधक ने श्वास को देख लिया, समझ लिया, वह आत्मा से अनजान कैसे रह पाएगा। आत्मा के अस्तित्व मे सदेह तभी होता है, जब श्वास का ज्ञान न हो। श्वास की प्रक्रिया समझने वाला साधक भलीभाति जानता है कि श्वास का सचालन आत्मा द्वारा ही होता है। इस अवगति के बाद आत्मा के अस्तित्व के बारे मे कोई सदेह उभर ही नही सकता। पर सबसे बडी कठिनाई यही है कि व्यक्ति सही तत्त्व को समझने का प्रयत्न ही नही करता। वह देखता है, पर अपने आपको नही देखता। अपने श्वास को नही देखता, अपने चैतन्य स्पन्दनो को नही देखता और अपनी आत्मा को नही देखता। उसकी दृष्टि सदा दूसरी ओर टिकी रहती है। वह सोचता है—अमुक व्यक्ति क्या कर रहा है? अमुक कहा जा रहा है? आदि।

एक दिन प्रात शेख सादी अपने पुत्र के साथ नमाज पढ़ने गये। नमाज पढकर वे लौट रहे थे। पुत्र साथ मे था। वह अवस्था मे छोटा ही था। पर पिता के सस्कारो से प्रभावित था, इसलिए प्रतिदिन नमाज पढता था। लौटते समय उसने देखा—बडे-बडे मुल्ला और मौलवी अभी तक सो रहे है। उसके बाल मन पर एक प्रतिक्रिया हुई। वह शेख सादी को सम्बोधित कर बोला—अब्बाजान! ये लोग कितने पापी है, जो नमाज पढने के समय भी सो रहे है। शेख ने पीछे मुडकर देखा। कुछ मुल्ला लोग खर्राटे भर रहे थे। उनकी ओर उडती नजर डालकर शेख ने अपनी दृष्टि पुत्र पर केन्द्रित कर कहा—बेटे! पापी ये लोग नही, तू है। बालक के मन पर एक कठोर आघात हुआ। वह रुआसा होकर बोला—मैं पापी कैसे हूं? शेख पुत्र का सिर सहलाते हुए बोले—देखो बेटा, जो लोग सो रहे है, वे दूसरो का दोष तो नही देखते। तू नमाज पढकर भी औरो के प्रमाद को देखता है, खुद को नही देखता। इससे उसे बोध-पाठ मिल गया। उसने उसी समय सकल्प कर लिया कि भविष्य मे कभी दूसरो के दोष नही देखूगा।

आत्म-दर्शन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है। इसे पार कर लिया जाए तो इस समस्या का समाधान स्वत हो जाता है। श्वास-दर्शन, आत्म-दर्शन

का सीधा रास्ता है। यह कोई मान्यता या धारणा नही है, जीवन का प्रयोग है। इस प्रेक्टिकल रास्ते से जो साधक चलते है, वे निश्चित रूप से लाभान्वित होते है। क्योकि वे अपनी दुर्वलताओ और बुराइयो को देखते है और उन्हे छोडते जाते है।

मैं अपनी वगाल-विहार यात्रा के मध्य पहली वार कानपुर गया। वहा के प्रसिद्ध उद्योगपति पद्मपतजी सिंहानिया सम्पर्क मे आए। साधु-सतो के प्रति उनमे कोई विशेष रुचि नही थी, पर अणुव्रत का दर्शन उन्हे अच्छा लगा। उन्होंने अपने 'कमलापत सिंहानिया मेमोरियल हॉस्पिटल' मे चातुर्मासिक प्रवास करने का अनुरोध किया। उनके हार्दिक अनुरोध को स्वीकार कर हम लखनऊ तक जाकर चातुर्मास करने के लिए पुन कानपुर आए। स्वागत समारोह मे अपने प्रवचन के अत मे मैंने कहा—वन्धुओ! मैं भिक्षुक हू। आपके शहर मे भिक्षा लेने आया हू। क्या आप मेरी खाली झोली भरेंगे? मेरे इस प्रश्न ने लोगो को चौका दिया। वे सोचने लगे और परस्पर फुसफुसाने लगे कि इनकी झोली किस से भरें? मैंने उनकी दुविधा को समझा और उसे समाप्त करते हुए कहा—भाइयो! मैं आपसे हीरे-पन्ने नही माग रहा हू। नोट भी नही माग रहा हू। आप अपने जीवन की एक-एक वुराई मुझे भेंट कर दें, मेरी झोली भर जाएगी।

मेरी यह वात सुनकर पदमपतजी खडे होकर वोले—मैने भारत की धरती पर वहुत साधु-सन्यासी देखे है। पर ऐसे भिक्षुक नही देखे जो वुराइयो की भीख मागे। आचार्यजी ने हमे ऐसी भीख देने का आह्वान किया है, यदि हम ईमानदारी के साथ यह काम करेंगे तो हमारा कल्याण हो जाएगा।

वन्धुओ! अपनी वुराई के विसर्जन का प्रयोग जिन लोगो ने किया है, वे निश्चित रूप से सफल हुए है। इसलिए हर साधनाशील व्यक्ति का यह प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने आपको देखे और अपनी वुराइयो का विसर्जन करता रहे।

७ सितम्वर, १९८०

अपवित्र मे पवित्र

आज की हमारी चर्चा का विषय है—शरीर शोधन का दर्शन। शरीर की शुद्धि के लिए मनुष्य जितना सजग है, दूसरा कोई प्राणी नही है। वह शरीर को स्वच्छ वनाए रखने के लिए शरीर पर उवटन लगाता है, तेल लगाता है, साबुन से शरीर को मल-मल कर धोता है, अन्य प्रसाधन-सामग्री का उपयोग भी करता है। इस क्रम मे गुजरने के वाद व्यक्ति सोचता है कि मेरे शरीर मे अव किसी प्रकार की अशुद्धि नही रही। शरीर-शुद्धि की इस परिभाषा के अनुसार जैन मुनियो के लिए इसका मार्ग सर्वथा वन्द ही रहेगा। क्योकि वे कभी स्नान नही कर सकते। "जावज्जीव वय घोर असिणाण महिट्ठगा"—साधु-जीवन, स्वीकार करने वाले जीवन-भर अस्नान का घोर व्रत स्वीकार कर चलते हैं। अस्नान व्रत की आराधना करने वाले जैन मुनि अपने मच से शरीर-शोधन की वात कहे, क्या यह आश्चर्य की वात नही है?

एक समय था जव यह कहा जाता था कि जैन मुनि की पहचान उनके दात देखने से हो जाती है। उनके दात इतने गदे होते है कि उन पर चवन्नी चिपक जानी है। पता नही, यह वात कहा से आई? फिर भी इसे पाठ्यक्रम मे स्थान मिल गया। यदि हम यौक्तिक दृष्टि से इस वात पर विचार करें तो समझ मे ही नही आती। क्योकि जैन मुनि का यह नियम है कि वह रात्रि के समय न कुछ खा सकता है, न जल पी सकता है और न कोई अन्नकण मुह मे ही रख सकता है। रात्रि मे कोई अन्न-खड दातो मे फसा रह जाए तो उसके लिए भी प्रायश्चित्त करना होता है। इसी प्रकार शरीर पर किसी प्रकार की गदगी लग जाए तो उसे साफ किए विना जैन

मुनि अपने शास्त्रों का अध्ययन भी नही कर सकता । ऐसी स्थिति मे जैन मुनि को गन्दगी का प्रतीक वताना अपने अज्ञान को पोषण देना है ।

हमारे मच से शरीर-शोधन की जो वात हो रही है, उसका सम्वन्ध ऊपर की स्वच्छता से नही है । गरीर की भीतरी स्वच्छता का तरीका वह नही है, जिसे आम लोग काम मे लेते है । हमारे अभिमत से वह तरीका है 'प्रेक्षा ।' शरीर प्रेक्षा के प्रयोग से शरीर के भीतर जमे हुए मल उखड जाते हैं और शरीर की स्वाभाविक क्रिया मे उपस्थित होने वाले अवरोध समाप्त हो जाते हैं ।

प्रश्न हो सकता है कि जैन मुनि शरीर को वाहर से ही नही, भीतर से भी स्वच्छ रखने पर वल देते है, तव उनके सम्वन्ध मे ऐसी भ्रान्तिया कैसे फैली ? मैं ममझता हूँ कि भ्रान्तिया अकारण नही है । किसी भी सिद्धान्त को सही रूप से न समझ पाने के कारण भी कुछ भ्रान्तिया उत्पन्न हो जाती है । जैन धर्म का एक सिद्धान्त है—"देहे दुक्ख महाफल"—इसका अर्थ किया गया—शरीर को कष्ट देना ही धर्म है । जितना अधिक कष्ट इस शरीर को दिया जाएगा, उतनी जल्दी मुक्ति हो जाएगी । इस धारणा ने काम किया और शरीर को नगण्य मान लिया गया । उक्त सिद्धान्त के सही अर्थ का अन्वेषण नही किया गया, इसलिए एक भ्रान्ति ने जन्म ले लिया । सही अर्थ का अन्वेपण करने पर स्पष्ट होता है कि शरीर को कष्ट देना धर्म नही किन्तु साधना के मार्ग पर चलते समय सहज रूप मे जो कष्ट उपस्थित हो जाए, उन्हे समभाव से सहन करना धर्म है ।

प्रतिप्रश्न हो सकता है कि साधना का ऐसा मार्ग लिया ही क्यो जाए, जिसमे कष्टो की सभावना हो ? यह दृष्टि का अन्तर है, चिन्तन का भेद है । प्राकृतिक चिकित्सको की यह मान्यता है कि शरीर मे किसी प्रकार का कष्ट आता है, वह शरीर के लिए वरदान है । क्योकि शरीर के भीतर जो खरावी है, वह जव तक वाहर नही आएगी, शरीर शुद्ध नही होगा । शरीर ज्वर से प्रभावित होता है या उस पर कोई व्रण निकलता है, इसका अर्थ यही है कि भीतर सचित मल वाहर निकल रहा है । उसके वाहर निकलने से ही शरीर का शोधन होता है । साधना के पथ मे आने

वाले कष्ट भी आत्मा मे संचित सस्कारो का प्रतिविम्व है। उन सस्कारों को भीतर-ही-भीतर दवाने मे कठिनाई अधिक हो सकती है। इसलिए उन्हे द्रष्टाभाव से देखना और समभाव मे सहना यही साधक का धर्म है। शरीर मे दर्द की अभिव्यक्ति शुभ सूचना है, इसी प्रकार साधना मे कष्टो की आविर्भूति भी एक विशेप सूचना है। उसे विकास का प्रारम्भ समझकर आगे वढा जाए तो वहुत वडी सफलता मिल सकती है।

कुछ लोगो का अभिमत है कि शरीर मे कोई सार नही है। वह गंदा है, अशुचि है, अपवित्र है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि इसी अपवित्र शरीर मे परम पवित्र आत्मा का वास है, यही आत्मा परमात्मा है। जिस शरीर मे स्वय परमात्मा विराजमान हो, उसे अपवित्र क्यो मानें, कैसे माने, अपवित्रता मे छिपी हुई पवित्रता को समझ लिया जाए तो सही तत्त्व प्राप्त हो सकता है। सामान्यत मनुष्य ऊपर की स्वच्छता और चमक-दमक पर ध्यान देता है, भीतर का रहस्य वह नही खोजता। भीतरी तत्त्व को समझे विना सत्य को नहीं समझा जा सकता।

पाटलिपुत्र मे गौतम वुद्ध की सन्निधि मे एक सभा आयोजित थी। सम्राट् सेनापति, सचिव नागरिक सभी उपस्थित थे। वुद्ध का प्रिय शिष्य आनन्द भी सभा मे था। उसने एक प्रश्न उपस्थित किया—भन्ते ! यहा जितने लोग वैठे है, उनमे सवसे अधिक सुखी कौन है ? वुद्ध ने सभा की ओर दृष्टिक्षेप किया। सभा मे एक मौन सन्नाटा छा गया। सम्राट्, सेनापति, वड़े-वड़े धनकुवेर आदि पर वुद्ध की दृष्टि नही थमी। उन्होने सभा मे सवसे पीछे वैठे एक फटेहाल व्यक्ति की ओर सकेत कर कहा—इस सभा मे सवसे अधिक सुखी व्यक्ति वह है।

एक प्रश्न का समाधान मिला, पर दूसरी उलझन खडी हुई। श्रोता चकित रह गए। आनन्द ने फिर पूछा—भन्ते ! वात समझ मे नही आई, कुछ स्पष्टता से वताइए। वुद्ध ने सम्राट् को सम्वोधित कर पूछा—आपको क्या चाहिए ? सम्राट् वोला—भन्ते ! वहुत कुछ चाहिए। राज्य का विकास करने के लिए समृद्धि, सेना, शस्त्रास्त्र सवका विकास करना है। सेनापति ने भी अपनी कुछ मागे प्रस्तुत की। नागरिको की मागें तो विविध प्रकार की थी। अन्त मे वुद्ध ने उस फटेहाल व्यक्ति से पूछा—भैया ! तुझे क्या

चाहिए ? वह सहज भाव में बोला—भन्ते ! मुझे कुछ नहीं चाहिए। पर जब आप पूछ रहे हैं तो एक मांग कर लेता हूँ। क्या ? बुद्ध द्वारा पूछे जाने पर उसने उत्तर दिया—मेरी एक ही चाह है कि मेरे मन में कोई चाह पैदा न हो।

बुद्ध ने आनन्द की ओर अभिमुख होकर कहा—आनन्द ! समझ आया सुख का रहस्य। वेश-भूषा में कोई व्यक्ति सुखी नहीं होता, सुख तो व्यक्ति के भीतर रहता है। इसी प्रकार इस अपवित्र शरीर के भीतर पवित्र आत्मा और परमात्मा का वास है। उसकी खोज हो जाने के बाद सारे प्रश्न स्वयं समाहित हो जाएंगे।

८ सितम्बर, १९८०

मत बोलो, बोलो

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के साथ सम्पर्क बनाए रखने का एक सशक्त माध्यम है भाषा। व्यवहार जगत मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह न हो तो व्यवहार का लोप हो जाता है। इसके बिना हमारा काम नही चलता। पर इसका अर्थ यह भी नही है कि हम बोलते ही जाए। बोलते रहने से भी हमारा काम नही चलेगा। ऐसी स्थिति मे एक द्वन्द्व खडा हो जाता है कि बोले या न बोले? इस द्वन्द्व को समाप्त करने के लिए हमे आगमो का सहारा उपलब्ध है। वहा बताया है कि मत बोलो और बोलो तो सम्यक् बोलो। मत बोलो, यह वाक् गुप्ति है। सम्यक् बोलो यह भाषा समिति है। बोलते-बोलते थक गए हो तो मत बोलो। मौन करते-करते थक गए हो तो सम्यक् बोलो। कितना सीधा समाधान है यह। यहा कोई द्वन्द्व टिक ही नही सकता।

भाषा के बिना किसी का काम नही चलता, यह एक दृष्टि है। जिसके पास भाषा नही है, वह हमारे काम का नही है, यह भी एक दृष्टि है। वह व्यक्ति फिर चाहे कितना ही सशक्त क्यो न हो, वह चाहे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मा या परमेश्वर की सत्ता ही क्या न हो? उससे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? नमस्कार महामत्र मे सबसे पहले अर्हतो को नमस्कार किया गया है। वहा सिद्धो का स्थान दूसरा है। क्यो? वे हमारे काम के नही है। न तो उनके द्वारा हमे कोई पथ दर्शन मिलता है और न हमारी शका का समाधान ही होता है। अर्हत बोलते है। वे हमारे आसन्न उपकारी है, इसलिए सबसे पहले उन्ही को नमस्कार किया जाता है।

वे केवलज्ञानी अर्हत् भी हमारे काम के नही, जिनके पास श्रुतज्ञान

नही है। क्योकि 'चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइ' है। श्रुतज्ञान के अतिरिक्त शेष चार ज्ञान मजूषा मे वन्द कर सुरक्षित रखने के है। उपयोग तो केवल श्रुतज्ञान का ही है। क्योकि उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग श्रुतज्ञान के ही होते है। श्रुतज्ञान क्या है? वह वाङ्गमय है। इस दृष्टि से वाणी हमारे काम की है। वह हमारा उपकार करती है।

अव प्रश्न यह है कि वाणी की शुद्धि कैसे हो? "प्रलम्वनादाभ्यासेन प्राणायामेन च।" प्रलम्व नाद का अभ्यास और प्राणायाम—ये दो ऐसे माध्यम हैं, जिनके द्वारा वाणी को विशुद्ध वनाया जा सकता है। प्राणायाम का नाम सुनकर कोई चौके नही। क्योकि यह ऐसी प्रक्रिया है, जो सहज होती है। इसे सीखने के लिए अतिरिक्त समय लगाने की भी अपेक्षा नही है। सगीत अपने आप मे प्राणायाम का अभ्यास है। जो सगीतकार है, वे इस तथ्य का अनुभव कर सकते है। गाते समय श्वास को रोकना होता है। इसी प्रकार वोलते समय भी श्वास रुकता है। वोलना और श्वास लेना—ये दो क्रियाए साथ-साथ नही हो सकती। गाते समय, वोलते समय स्वाभाविक रूप से प्राणायाम का अभ्यास हो जाता है। प्रलम्वनाद का अभ्यास भी कोई कठिन प्रक्रिया नही है। इससे उच्चारण स्पष्ट होता है और जो कुछ कहा जाता है, वह अच्छी प्रकार से समझ मे आ जाता है। जल्दी वोलने से श्रोता न तो शव्दो को पकड सकता है और न उसका अर्थ-वोध ही कर सकता है।

उच्चारण शुद्धि के साथ वाणी-शोधन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है विवेक। वाणी का सविवेक प्रयोग केवल वक्ता का ही नही, वहुत लोगो का हित साध सकता है। वाणी मे एक क्षमता और है। वह इतनी विचित्र है कि किसी को पता भी नही चलता है और व्यक्ति का काम भी वन जाता है।

एक महाजन और किसान मे लेन-देन का व्यवहार चलता था। किसान मे महाजन का रुपया वाकी था, पर वह देना नही चाहता था। महाजन अपना रुपया कैसे छोडे? वह कोर्ट मे गया। केस चला। दोनो पक्षो के वकीलो ने अपनी ओर से तर्क उपस्थित किए। न्याय देना था न्यायाधीश को। महाजन ने देखा कि जज साहव की जेव गर्म किए विना

काम नही बनेगा। उसने एक कीमती और आकर्पक पगड़ी का उपहार न्यायाधीश को चढा दिया। इधर किसान को इस वात की जानकारी मिली तो उसने एक पुष्ट और दुधारू भैस लाकर जज साहव की कोठी पर खडी कर दी। फैसले के दिन महाजन और किसान दोनो कोर्ट मे उपस्थित थे। न्यायाधीश ने फैसला सुनाना शुरू किया। मामला इधर से उधर होते देख महाजन वोला—हुजूर ! पगडी की लाज रखना। जज साहव एक कुटिल हसी हसते हुए वोले—भाई ! पगडी को भैस चर गई।

न्यायाधीश के फैसले से मामला समाप्त हो गया। उनकी वात को न श्रोता समझ सके और न वकील। साधना की भूमिका पर वाणी के ऐसे प्रयोग को प्रशस्त नही माना जा सकता। इसलिए साधक वाणी-शोधन के अभ्यास मे उसके उच्चारण, प्रयोग और परिणाम—सवको प्रशस्त वनाने की प्रक्रिया सीखे।

६ सितम्वर, १९८०

अस्वीकार की शक्ति

मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है। वह कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। वह जो कुछ करता है, उसमे अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। प्रश्न यह है कि वह बुरा क्यो करता है और बुराई का उत्स कहा है ? एक अभिमत के अनुसार बुराई का मूल मनुष्य की वृत्तियो मे है। वहा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि के झरने प्रवाहित हो रहे है। उनका प्रवाह मन के ऊपर बहता है। मन चचल हो उठता है और मनुष्य की क्रिया बुराई को निष्पन्न कर देती है। मन आत्मा के स्थूल परिणामो का नाम है। उससे आगे भी जो सूक्ष्म, सूक्ष्मतर परिणाम है वे वृत्तिया, अध्यवसाय, भाव या लेश्या के रूप मे पहचाने जाते है। इस सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो मन दोषी नही है। बुराई का उत्स सूक्ष्म वृत्तियो मे रहता है। मैं समझता हू कि यह मूलस्पर्शी दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण तक हर व्यक्ति की पहुच नहीं हो सकती। क्योकि सामान्यत अध्यवसाय, वृत्ति और मन सबको मन के रूप मे ही जाना जाता है।

आत्महत्या के एक मामले मे जज ने एक देहाती गवाह को खडा किया। गवाह ने बताया कि मृत व्यक्ति ने आत्महत्या नही की। वह बीमार था। बीमारी के कारण उसकी मृत्यु हुई है। जज ने पूछा उसे क्या बीमारी थी ? गवाह बोला—उसके पेट मे दर्द था। वकील यह बात सुनते ही सहम गया। वह बोला—क्या करते हो ? केस खराब कर दिया। पेट-दर्द से कभी कोई मरता है क्या ? गवाह ने पूछा—अब क्या करू ? वकील ने उसको समझा दिया।

अगली तारीख को जज ने वही प्रश्न किया—मृतक को क्या बीमारी

थी ? गवाह ने उत्तर दिया—जी। उसके पेट मे दर्द था। जज का दूसरा प्रश्न था—पेट मे दर्द किस स्थान पर था ? गवाह ने हार्ट पर हाथ रखते हुए वताया—उसको दर्द यहा था। जज वोला—तुम तो कहते थे कि उसके पेट मे दर्द था, अव छाती पर हाथ क्यो लगा रहे हो ? गवाह सकपकाता हुआ वोला—जी। गले से नाभि तक सारा पेट ही तो है।

शरीर तत्र को नही समझने वाले लोग हृदय और पेट का भेद नही समझ पाते। इसी प्रकार मानस-शास्त्र को नही समझने वाले मन, वृत्ति और अध्यवसाय का भेद नही कर सकते। इस दृष्टि से अध्यवसाय और वृत्तिया मन ही है और इस माने मे दोपी मन ही ठहरता है।

मन का कोई दोप न हो तो उसके सशोधन की अपेक्षा ही क्या है ? हम मानसिक शोधन की चर्चा कर रहे है, इसलिए मन का दोष तो स्वत प्रमाणित हो ही गया। मन का शोधन करने के लिए वृत्तियो और अध्यवसायो को भी शुद्ध करना होगा अन्यथा भीतर से बुराई का प्रवाह आता रहेगा, जो मन को विशुद्ध नही रहने देगा। वृत्ति-शोधन का एक सूत्र है अस्वीकार की क्षमता का विकास। जिन व्यक्तियो मे बुरी वात को अस्वीकार करने की शक्ति जागृत हो जाती है, फिर क्या मजाल है जो उनका मन कोई बुरी वात सोच ले। ऐसी क्षमता जागने के वाद भी बुराई टिककर रहे तो क्या योग साधना व्यर्थ नही हो जायेगी ? मेरा यह दृढ विश्वास है कि अस्वीकार की शक्ति से हर असभव को सभव कर दिखाया जा सकता है।

राम और रावण के युद्ध की घटना से आप परिचित है। कहा रावण की सेना और शस्त्र वल ? कहा वनवासी राम की वानरी सेना ? पर राम के पास असत् को अस्वीकारने का वल था, सकल्प का वल था। सकल्प वल के सहारे लकादहन हुआ, राक्षसो की धज्जिया उडा दी गई और वहा रामराज्य स्थापित हो गया। अस्वीकार की यह शक्ति अपने विरोधी जनो के प्रति ही नही पूज्यजनो के प्रति भी होनी चाहिए।

शहशाह अकवर का नाम आपने सुना होगा। वे अपनी माता के वडे भक्त थे। वे सव कुछ कर सकते थे, पर मा की वात नही टाल सकते थे। मा की सुविधा के लिए वे वडे से वडा खतरा भी उठा लेते थे। एक वार

उन्हे लाहौर और आगरे के वीच कोई नदी पार करनी पडी। उस समय उन्होने अपनी मा की पालकी अपने कधो पर उठाई थी। अपनी माता के वचनो को वे व्रह्मवाक्य मानते थे। ऐमे मातृ-भक्त अकवर ने भी एक वार मा की वात मानने से इन्कार कर दिया, यह उनकी अस्वीकार की शक्ति का द्योतक है।

वात यह हुई कि एक वार पुर्तगालियो ने मुगलो के एक जहाज को अपने अधिकार मे ले लिया। उसमे उन्हे कुरान शरीफ की एक प्रति मिली। कुछ ईसाई पुर्तगालियो के मन मे दुर्भावना जागी और उन्होने उसको एक कुत्ते के गले मे वाधकर शहर मे घुमाया। यह खवर सुनते ही अकवर की मा आगववूला हो गई और प्रतिशोध-भावना से प्रेरित होकर वोली—वाइविल की प्रति को गधे के गले मे वाधकर उस पर थूको और उसे शहर मे घुमाओ।

अकवर मा का आदेश सुनकर वोला—मां! काटे से काटा निकालने की वात तो समझ मे आती है, पर जुल्म का वदला जुल्म से लेना इस वात से मैं सहमत नही हूं। कुछ मनचले लोगो ने कुरान शरीफ के प्रति दुर्भावना-पूर्ण व्यवहार किया, इसमे वाइविल का क्या अपराध है? अपनी माता के अनुचित आदेश को अस्वीकार कर वादशाह ने एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया।

आचार्य भिक्षु अपने दीक्षा गुरु रघुनाथजी के अनन्य भक्त थे। उनके साथ उनका गहरा तादात्म्य जुडा हुआ था। पर जिस क्षण उनकी समझ मे आ गया कि गुरु की हर वात ठीक नही है, वे उनसे वधे नही रह सके। भयकर मुसीवतो की सभावना स्पष्ट थी, फिर भी वे गुरु को छोडकर चले गए। आचार्य भिक्षु के उस अस्वीकार का परिणाम ही यह तेरापथ है। मेरा यह दृढ विश्वास है कि अस्वीकार की शक्ति जागृत होने के वाद हमारा मन कुछ भी नही कर सकता। न हम अपने मन को वुरा-भला कहे और न ही उससे हार स्वीकार करें। ऐसा होने से ही मानसिक अनुशासन विकसित हो सकता है।

१० सितम्वर, १९८०

सुधार की बुनियाद

व्यक्ति और समाज दोनो परस्पर सापेक्ष है। व्यक्ति के विना समाज नहीं वन सकता और समाज के विना व्यक्ति उभर नही सकता। समाज व्यक्तियो का एक समूह है तो व्यक्ति समाज का अग है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति सुधार के लिए सुधरे हुए समाज की अपेक्षा रहती है और समाज सुधार के लिए व्यक्ति का सुधार एक अपरिहार्य आवश्यकता है।

निश्चय की भूमिका पर व्यक्ति की अपनी स्वतत्र सत्ता है और अपने निर्माण का दायित्व स्वय उसी पर है। क्योकि वास्तव मे कोई किसी को वना नही सकता और कोई विकृत नही कर सकता। किन्तु व्यवहार के धरातल पर व्यक्ति समाज से प्रभावित होता ही है। कोई व्यक्ति कितना ही ऊचा हो, उसका समाज यदि दूषित है तो वह उस छाया से बचकर रह नही पाता। इसलिए व्यक्ति सुधार के लिए समाज को सुधारने के प्रश्न को भी टाला नही जा सकता। क्योकि समूह मे वह शक्ति होती है, जो सर्वाधिक सक्षम व्यक्ति को भी अपने साथ वहा लेता है।

एक राजा के पास कोई ज्योतिपी आया और वोला—राजन्! आधा घटा वाद वर्षा होने वाली है। उसमे मादक पानी वरसेगा। उस पानी को स्नान या पीने के लिए उपयोग मे लाने वाला व्यक्ति पागल हो जाएगा, इसलिए आप शहर मे घोपणा करा दे कि कोई भी नागरिक उस जल को काम मे न ले।

राजा ने भविप्यवक्ता की वात सुनी किन्तु उस पर ध्यान नही दिया। आधा घटा होते-होते आकाश मे घटा उमड पडी और पानी वरसने लगा। राजा को ज्योतिपी की वात पर थोडा विश्वास हुआ। वह मत्री को साथ

लेकर शहर की स्थिति का निरीक्षण करने निकला । थोडी दूर जाते ही उसने देखा—हजारो पागल हो गए है। वे अपने वस्त्र उतारकर नाच रहे है, गा रहे है और गली-गली मे घूम रहे है । राजा ने मत्री की ओर अभिमुख होकर पूछा—यह सब क्या हो गया ? कैमे हो गया ?

इसी वीच राजा और मत्री सैकडो व्यक्तियो से घिर गए। वे चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे—ये दो व्यक्ति कौन है ? लगता है कि ये पागल है, इनको मारो और पागलपन दूर करो । राजा घबरा गया। वह धीरे से वोला—मत्री ! अव तो मारे जाएगे। मत्री वोला—राजन् ! हम भी इनके साथ हो जाए तो वच सकते हैं। देखते-ही-देखते राजा और मत्री ने अपने वस्त्र उतार दिए। वे भी उनके साथ नाचने-गाने लगे ।

यह है समूह या समाज का प्रभाव। यह एक सचाई है, इसे नजरदाज नही किया जा सकता। इस दृष्टि से व्यक्ति-सुधार के साथ समाज-सुधार भी आवश्यक है। सुधरा हुआ समाज व्यक्ति को सुधरने का पूरा अवकाश देता है।

सामाजिक वातावरण का प्रभाव निश्चित है, फिर भी तथ्य यह है कि व्यक्ति-सुधार के विना शाश्वत-सुधार नही हो सकता। इसलिए बुनियादी काम व्यक्ति-सुधार को ही मानना होगा । इसके लिए सवसे वडा सूत्र है हृदय-परिवर्तन। उसके साथ नाडीतत्र, ग्रन्थियो का स्राव आदि विन्दुओ को भी सामने रखकर चिन्तन किया जाए तो समस्या का समाधान हो सकता है। एक सुधरा हुआ व्यक्ति अनेक व्यक्तियो के सुधार मे निमित्त वन सकता है, यह भी एक निर्विवाद तथ्य है।

अमेरिका का प्रधान सेनापति जार्ज वाशिगटन परिवर्तित वेश मे परि-भ्रमण कर रहा था। उस समय स्वतत्रता सग्राम चल रहा था, इसलिए स्थान-स्थान पर सेना के जवान कार्यरत थे। एक स्थान पर काफी सख्या मे सैनिक खडे थे। वे किसी भारी लक्कड को ऊपर उठाने मे सलग्न थे, पर लक्कड इतना भारी था कि वह हिल ही नही रहा था। जार्ज उधर से गुजरा। उसने देखा कि एक व्यक्ति शान मे घोडे पर चढकर खडा है। जार्ज ने उसको सम्वोधित कर कहा—महाशय ! आप खडे क्यो है ? सैनिको के काम मे आप भी हाथ वटाए। यह वात सुनकर वह घुडसवार वोला—

आप जानते नही, मैं सेनापति हू। यह काम सैनिको का है।

जार्ज सैनिको के पास पहुंचा और अपनी पूरी शक्ति लगाकर लक्कड़ उठाने लगा। देखते-देखते लक्कड उठ गया। वहा से लौटते समय जार्ज घुडसवार के पास ठहरकर बोला—महाशय! भविष्य मे कभी भी ऐसा कोई काम पडे तो आप प्रधान सेनापति जार्ज वाशिगटन के नाम से पत्र देना मत भूलना। यह सुनते ही सेनापति पानी-पानी हो गया। अब वह घोडे पर बैठा नही रह सका। उसके अह पर गहरी चोट हुई। वह नीचे उतरकर जार्ज के चरणो मे झुक गया। उसे अपनी भूल का बोध हो गया।

यह तरीका है व्यक्ति-सुधार का। इसमे पहल अपने से होती है। किन्तु आज क्रम इससे विपरीत चल रहा है। अपने सुधार की बात गौण है, पर औरो के सुधार की अपेक्षा की जाती है। इस क्रम से सुधार का मार्ग प्रशस्त नही हो सकता। ध्यान, आसन, प्राणायाम आदि के माध्यम से वृत्तियो का परिवर्तन व्यक्ति-सुधार का मूलभूत आधार है। व्यक्ति-सुधार समाज सुधार की सुदृढ नीव है और व्यक्ति एव समाज-सुधार की अन्तिम निष्पत्ति होगी राष्ट्र-सुधार। व्यक्ति और राष्ट्र की इस सापेक्षता से ही मानव जाति का अभ्युदय सभव है।

११ सितम्बर, १९८०

परम पुरुषार्थ

ध्यान एक परम पुरुपार्थ है, यह दृष्टि जव तक स्पष्ट नही हो जाती है, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का कल्याण नही हो सकता । दृष्टि की स्पष्टता किसी भी कार्य की सफलता का वह विन्दु है, जिसे नजरदाज कर कोई भी व्यक्ति आगे नही वढ सकता। ध्यान से शक्ति का अर्जन होता है और उस अर्जित शक्ति से व्यक्तित्व का निर्माण होता है ।

कुछ लोग ध्यान को निष्क्रियता का प्रतीक मानते है। उनकी दृष्टि मे ध्यान का प्रयोग वे व्यक्ति करते है, जिनके पास कोई दूसरा महत्त्वपूर्ण काम नही होता। पर मै इस मान्यता से सहमत नही हू। मेरे अभिमत से यह चिन्तन उन लोगो का हो सकता है जो ध्यान की विधि मे परिचित नही है और उस प्रक्रिया से गुजरे नही है । जो ध्यान अकर्मण्यता को निष्पन्न करता है, मैं उसे ध्यान मानने के लिए भी तैयार नही हू। ध्यान की शक्ति इतनी विस्फोटक होती है कि वह मानव-चेतना मे छिपी हुई अनेक विशिष्ट शक्तियो का जागरण कर मनुष्य को कहा से कहा पहुचा देती है।

ध्यान धर्म या अध्यात्म का अभिन्न अग है। इसे प्रेक्षाध्यान के रूप मे प्रस्तुति देने के पीछे एक वहुत व्यापक दृष्टिकोण रहा है। इस पद्धति के आविष्कार मे पन्द्रह वर्ष का समय लगा । आचार्य भिक्षु ने तेरापथ की नीव डाली। उसके सही निर्माण मे प्रारम्भिक रूप से पन्द्रह वर्ष लग गए। वि० स० १८१७ मे जिस तेरापथ का उदय हुआ, उसकी व्यवस्थित रूपरेखा वि० स० १८३२ मे सामने आई। पन्द्रह वर्ष की लम्वी तपस्या के

वाद धर्मसघ का जो सविधान वना, वह आज भी एक उदाहरण वना हुआ है।

पूज्य गुरुदेव कालूगणी के स्वर्गवास के वाद हम उन्ही के आशीर्वाद से नई दिशा मे चले। जिस दिन चले, उसके पन्द्रह वर्ष वाद दिल्ली मे अणुव्रत का प्रथम अधिवेशन हुआ। हम एक असाम्प्रदायिक धर्म की घोषणा करने मे सफल हो गए।

किसी भी कार्य के पीछे कितनी गहरी तपस्या करनी होती है, यह हमने जाना। विना तपस्या के भी काम हो सकता है, पर वह अभीष्ट परिणाम नही ला सकता। कार्य की सफलता के लिए पुरुपार्थ के पीछे न जाने कितने तत्त्व जुडते है, उन सवको अखड रूप मे जानने की अपेक्षा है।

सामान्यत हम वस्तु को खडश देखते हे। खडश दर्शन अधूरापन है। हमारे अर्हत् अखड ज्ञान के अधिकारी होते है। वे केवलज्ञान प्राप्त कर तत्त्व का सर्वांगीण प्रतिपादन करते हे। कुछ दार्शनिक मानते हैं—

सर्व पश्यतु वा मा वा
तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु।

सव-कुछ जानने देखने से लाभ क्या ? केवल इष्ट तत्त्व को जानना चाहिए। किन्तु किसी भी तत्त्व को सर्वांगीण रूप से जानने वाले को सव तत्त्वो का ज्ञान स्वत प्राप्त हो जाता है—

जे एग जाणई से सव्व जाणई।

जो एक को जानता है, वह सवको जानता है। ऐसी स्थिति मे किसी एक ही पहलू और तत्त्व को पकडकर वैठने से काम नही हो सकता। शकुन, स्वप्न, ज्योतिप आदि तत्त्वो का भी अपने-अपने स्थान पर मूल्य है, किन्तु इन्हे पकडकर वैठ गए तो पुरुषार्थ पर पानी फिर जाएगा।

पुरुपार्थ हर व्यक्ति के हाथ की वात है, पर ध्यान का पुरुपार्थ कोई-कोई ही कर सकता है। इसलिए हर व्यक्ति को इसके लिए प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है। ध्यान का पुरुपार्थ करने वाले व्यक्तियो को दो वातो पर ध्यान देना जरूरी है। पहली वात यह है कि ध्यान के साधक मे किसी

प्रकार का भय न हो और दूसरी बात है—उसमे किसी प्रकार का प्रलोभन न हो।

भय की उत्पत्ति आशका से होती है। साधक के मन मे यह आशका हो कि मैं जो साधना कर रहा हू, उसमे मेरा अहित तो नही हो जाएगा ? इतने वर्ष हो गए साधना करते-करते, अब तक कोई परिणाम नही निकला है। पता नही क्या होने वाला है ? यह स्थिति व्यक्ति को अपने प्रति संदिग्ध बना देती है। सशय की स्थिति मे निराशा और भय की उत्पत्ति अस्वाभाविक नही है।

कुछ व्यक्तियो मे भय तो नही होता पर उनके विचार स्थिर नही हो पाते। शायद वह ठीक है, वहा अच्छा हो रहा है, इस चिन्तन मे वे अपने निर्धारित लक्ष्य के प्रति समर्पित नही रह पाते। दूर से पर्वत सुहावने लगते हैं—इस जनश्रुति के अनुसार सही पथ पा लेने के बाद भी उनका झुकाव दूसरी ओर बना रहता है। यह भटकन की स्थिति है। किसी भी प्रलोभन मे आकर इधर-उधर भटकने वाला साधक कभी सही रास्ता पा ही नही सकता।

कहा जाता है कि सन्त कन्फ्युशियस एक बार सम्राट् के अतिथि बने। वहा तीन पिंजरे रखे हुए थे। एक पिंजरे मे चूहा था, उसके सामने मेवा पडा था। दूसरे पिंजरे मे बिल्ली थी, उसके सामने मलाई से भरा हुआ कटोरा था। तीसरे पिंजरे मे बाज पक्षी था, उसके सामने ताजा मास था। चूहा, बिल्ली और बाज—तीनो भूखे थे, फिर भी चूहा मेवा नही खा रहा था। बिल्ली मलाई नही खा रही थी और बाज मास नही खा रहा था। सम्राट् ने सन्त से पूछा—ये तीनो भूखे है, अपना-अपना भक्ष्य खाना चाहते है, फिर भी खा क्यो नही रहे है ?

सन्त कन्फ्युशियस ने सारी स्थिति का आकलन कर कहा—चूहा अपने सामने बिल्ली को देखकर भयभीत है। इसलिए उसे मेवा खाना याद ही नही रहा। बिल्ली अपने सामने बाज को देखकर घबरा रही है, चूहा और मलाई दोनो उसके प्रिय खाद्य है, पर बाज के भय से उसके रस का स्राव ही नही हो पाता और वह भयाक्रान्त होकर अपने बचाव की बात सोच रही है। बाज के सामने किसी प्रकार का भय नही है। पर वह दो पदार्थों के प्रलोभन मे फसा हुआ है। पहले बिल्ली को खाऊ या चूहे को ?

इस डावाडोल स्थिति मे उसे अपने पिंजरे मे रखा हुआ मास दिखाई ही नही दे रहा है। लम्बे समय तक इनकी स्थिति यही रही तो ये तीनो ही भूख से तडप-तडप कर मर जाएगे।

मैं चाहता हू कि हमारे साधक निराशा या भय से मुक्त हो और प्रलोभन के प्रवाह मे न वहे। भय और प्रलोभन से चित्त विक्षिप्त होता है। इसलिए सही गुरु के सही पथ-दर्शन मे सही गुर सीखकर उसका अभ्यास करना चाहिए। इस क्रम से अपना ही नही समूची मानवता का भला हो सकता है।

१२ सितम्बर, १६८०

आराधना

साधना के क्षेत्र में आराधना बहुत उत्कृष्ट तत्त्व है। आराधना का अर्थ है—श्रावकत्व या साधुत्व की जिस विशिष्ट और विशुद्ध भूमिका पर जीवन जीना स्वीकार किया है, उसे उसी विशिष्टता और विशुद्धि के साथ सपन्न कर देना। कवीर के शब्दो मे—'ज्यो की त्यो धर दीन्ही चदरिया' जिस उज्ज्वल चद्दर को ओढा, उसे उतनी ही उज्ज्वलता की स्थिति मे उतारकर रख देना। उस उज्ज्वल चद्दर पर एक भी धब्बा रह जाता है तो उसकी विशुद्धि मे कमी रह जाती है। जीवन की चद्दर पर लगे हुए धब्बो को धोने के लिए सावुन और पानी का काम करती है 'आराधना'। इसके द्वारा लाखो-लाखो साधको ने अपने जीवन पर लगे धब्बो को धोकर उज्ज्वलता का वरण किया है।

साधक सोच सकता है कि उसके जीवन मे ऐसी परिस्थिति ही पैदा न हो, जिससे किसी प्रकार की विकृति को पनपने का अवसर मिले। यह सोचा जा सकता है, पर हो नही सकता। यदि ऐसी परिस्थिति पैदा ही न हो तो साधक की कसौटी क्या होगी ? किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति मे घवराहट हो जाए तो साधना कैसे होगी ? जव तक शरीर है, पग-पग पर वीमारी की सभावना वनी रहती है, पर उसमे भयभीत होकर हताश हो जाए तो जीना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार साधना के जीवन मे भी कदम-कदम पर स्खलन और विचलन की सभावना वनी रहती है। सभावना ही नही साधक फिसल जाता है। उस स्थिति मे उसे कुछ ऐसे प्रयोग करने चाहिए, जिनसे वह आराधक हो जाए, पुन सभल जाए।

साधक अपनी आवश्यकता के अनुसार सव क्रियाए करता है। वह

खाता है, सोता है, घूमता-फिरता है, और भी वहुत कुछ करता है। किन्तु हर क्षण सोचता रहता है कि मैंने जो सकल्प स्वीकार किया है, उसकी आराधना मे कोई कमी तो नही हो रही है ? मैने अपने सकल्प को विस्मृत तो नही कर दिया है ? मैं अपने सकल्प से प्रतिकूल आचरण तो नही कर रहा हू ? इस प्रकार जागृत रहने वाला साधक प्रमाद करके भी सभल जाता है।

प्राचीनकाल मे और अव भी आत्मार्थी पुरुप आराधना का सहारा लेकर आगे वढते रहे है। वे सब कछ स्वीकार कर सकते है, मौत को भी झेल सकते है, पर विराधना को स्वीकार नही कर सकते।

तीर्थंकर मुनि सुव्रत के युग की वात है। उनके शिष्य मुनि स्कन्दक एक आचार्य के रूप मे जनपद विहार कर रहे थे। एक वार उनके मन मे आया कि मै अपनी ससार-पक्षीया वहिन पुरन्दरयशा के नगर मे जाकर वहिन और वहनोई को धर्मोपदेश दू। मन की भावना पुष्ट हुई और वे पहुच गए मुनि सुव्रत के पास अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए। प्रभु को वदन कर वे वोले—प्रभो ! आपकी आज्ञा हो तो मैं कुम्भकारकुट नगर जाकर अपनी ससार-पक्षीया वहिन और वहनोई को समझाना चाहता हू।

प्रभु की ज्ञानचेतना के दर्पण मे अतीत, अनागत और वर्तमान—तीनो काल की समग्र घटनाए प्रतिविम्वित थी। कुम्भकारकुट नगर मे आचार्य स्कन्दक की उपस्थिति का प्रतिविम्व उभरा और प्रभु वोले—स्कन्दक ! उस नगर मे जाओगे तो भयकर कष्ट झेलने पड़ेंगे। वहा मरणात उपसर्गो की अपरिहार्यता है।

आचार्य स्कन्दक उत्सुक होकर पूछने लगे—भगवन् ! कष्टो से तो मुझे कोई भय नही है। मै मृत्यु का वरण करने के लिए तैयार हू, पर मुझे इतना-सा वता दें कि मैं आराधक होऊगा या नही ? प्रभु ने उत्तर दिया—स्कन्दक ! तुम आराधक तो नही हो सकोगे। तीर्थंकर मुनि सुव्रत की यह वात सुन आचार्य स्कन्दक की आकृति पर चिन्ता की रेखाए उभर आई। वे कुछ निर्णय लें, इससे पहले ही प्रभु फिर वोले—स्कन्दक ! तुम्हे छोडकर तुम्हारे सारे शिष्य (पाच सौ मुनि) आराधक हो जाएगे। यह सुनकर स्कन्दक का चिंतन वदला। उन्होने सोचा—एक मैं आराधक नही होऊगा,

पर पाच सौ मुनि आराधक वन जाएगे। कितना वडा लाभ है। अपने लाभ के लिए मुझे इतना वडा लाभ नही खोना चाहिए। उन्होने प्रभु को वदन कर निवेदन किया—भगवन्! आप आज्ञा दे तो मुझे वहा जाना स्वीकार है। भगवान ने कहा—'अहा सुह' जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो स्कन्दक!

घटना वहुत लम्वी है। इससे समझना यह है कि साधक के सामने कितने ही कष्ट आए, उसे कष्टो या मौत का भय न होकर विराधक होने का भय होना चाहिए। वुढापा, मौत, वीमारी या दूसरी प्रतिकूल स्थितिया टलने की नही है। इनमे निराश या भयाक्रात होना दुर्वलता है। ऐसी स्थिति मे भी आनन्द का अनुभव करना आराधकता का सही लक्षण है। आराधना ऐसा तत्त्व है जो रोने के समय हसना सिखाता है और कायरों को शूरवीर वनाता है। सही जीवन जीना और सही मौत मरना यही आराधना है। इसमे जीवन की समस्त विसगतिया समाप्त हो जाती है। शेप रहता है आनद का सतत प्रवाही स्रोत और आत्मविशुद्धि का स्वच्छ निर्झर। इसके द्वारा साधक अपने कर्मो के ऋण को उतारकर दु ख को सुख मे और मृत्यु को जीवन मे परिणत कर सकता है।

आलोचना

आराधना केवल इष्ट की ही नही होती। और भी ऐसे अनेक तत्त्व हैं जिनकी आराधना की जाती है। इनमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य प्रमुख तत्त्व है। इन तत्त्वो मे जीवन का अखण्ड प्रतिविम्व समाया हुआ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना सहज रूप से समझ मे आ जाती है, पर वीर्य की आराधना कैसे हो सकती है? यह एक सामान्य प्रश्न है।

वीर्य की आराधना का अर्थ है अपनी शक्ति का समुचित उपयोग। जहा शक्ति का गोपन होता है, वहा वीर्य की विराधना हो जाती है। वीर्य का आराधक किसी भी स्थिति मे अपनी क्षमता का निगूहन नही करता। यदि प्रमादवश कभी ऐसा हो भी जाए तो वह दूसरी वार उस क्रम को नही दोहराता। 'वीय त न समायरे' साधक दूसरी वार उसी भूल को न दोहराए—दशवैकालिक का यह सूक्त वीर्य की आराधना का मार्ग है।

'इयाणि णो जमह पुव्वमकासी पमाएण' मैने अव तक प्रमादवश वीर्य का निगूहन किया, पर भविष्य मे ऐसा नही होगा। यह सकल्प भी वीर्य की आराधना का प्रतीक है। इस सकल्प से भविष्य का पथ प्रशस्त हो जाता है। जव तक साधक को अपनी भूल का भान न हो तव तक वह अनुस्रोत मे वह सकता है, पर भूल का वोध होने के वाद भी उसे दोहराते रहना जागरूक जीवन का लक्षण नही है।

भविष्य मे अप्रमत्त रहने का सकल्प स्वीकार करने का अर्थ है नई वीमारी का द्वार वन्द कर देना। किन्तु जो वीमारी हो गई, वह क्या अचिकित्स्य ही है? उसका उपचार जव तक नही होता है तव तक स्वास्थ्य

लाभ नही हो सकता। अतीत मे हुई भूलो की चिकित्सा के लिए आगम-पुरुषो ने कई तत्त्वो की चर्चा की है। उनमे एक तत्त्व है 'आलोचना'। आलोचना की प्रक्रिया मे चार वाते हैं—आलोएमि, पडिक्कमामि, निंदामि, गरहामि। आलोचना—अपनी भूलो को देखना और उन्हे गुरु के ध्यान मे लाना। प्रतिक्रमण—अपनी भूल को वापिस लेना। 'मिच्छामि दुक्कड' मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, यह भूलो से वापिस लौटने का मार्ग है। निंदा—अपने असद् आचरण के लिए सरल मन से कहना कि मैंने वुरा किया है। गर्हा—अपने असद् आचरण को वहुत वुरा अनुभव कर उसे सार्वजनिक रूप से स्वीकार करना।

इस प्रकार आलोचना करने वाला साधक यह नही समझता है कि सवके सामने भूल स्वीकार कर अपनी प्रतिष्ठा को ताक पर क्यो रखू? अपनी इज्जत धूल मे क्यो मिलाऊ? क्योकि इससे उसकी इज्जत को नया रूप मिलता है, महत्ता वढती है। अपनी भूल को भूल समझना वहुत ही ऋजु दृष्टिकोण का प्रतीक है। भूल ज्ञात होने पर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त भी स्वीकार किया जाता है। यह वृत्ति केवल मनुष्यो मे ही नही, पशुओ मे भी पाई जाती है।

चण्डकौशिक सर्प के जीवन का एक प्रसग वहुचर्चित है। उसने अपने जीवन मे घोर पाप किया। जिस दिन उसे अपने कृत्य का वोध हुआ, उसका मन अनुताप से भर गया। उसने प्रायश्चित्त स्वरूप अपने शरीर को खुला छोड दिया। उस शरीर को कुछ लोगो ने पत्थरो से मारा, कुछ लोगो ने उस पर लाठी से प्रहार किया, कुछ लोगो ने वहा दूध-घी चढाया। चीटिया आ गई। उन्होने शरीर को काट खाया। पक्षियो ने उसको नोच डाला। पर चण्डकौशिक के मन पर कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया नही हुई क्योकि वह अपने पाप का प्रायश्चित्त कर रहा था।

मेघ मुनि ने एक छोटी-सी गलती की और वे तत्काल सभल गए। उन्होने अपनी भूल सुधार ली। पर जो भूल हो गई थी, उसके लिए उन्होने प्रायश्चित्त स्वीकार करते हुए संकल्प किया—इस जीवन मे किसी भी वीमारी का उपचार नही करूगा। कितना साहसिक सकल्प था यह। पर अन्तर्मुख व्यक्ति के लिए ऐसे सकल्प सहज वन जाते है।

आज भी जितने आत्मदर्शी व्यक्ति हैं, वे सब आलोचना करते हैं। उनके मन की ऋजुता उनकी महत्ता को बहुगुणित कर देती है। पर ऐसी आलोचना वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने आत्मा और शरीर के भेद को अनुभव कर लिया है, आत्मा के उत्कर्ष का संकल्प स्वीकार कर लिया है और वीर्य की आराधना में अपना समर्पण कर दिया है।

दिशा का बदलाव

जो लोग कुछ वनना चाहते है, उन्हे अपने आपको वदलना होगा। विना वदलाव जीवन का मही निर्माण नही हो सकता। जीवन-निर्माण की कला के सम्वन्ध मे केवल पढने या मुनने से जीवन नही वन सकता। इसके लिए लक्ष्य का निर्धारण और दिशा का वदलाव होना जरूरी है। नदी का प्रवाह वहता है, वह जाता है। उस प्रवाह को रोककर वाध वना दिया जाए, उससे नहरें निकाल दी जाए तो वह अपने अस्तित्व को सार्थक कर लेता है। जन-जीवन के लिए उसकी उपयोगिता वढ जाती है। इमी प्रकार जीवन के वहने हुए प्रवाह को रोककर वहा सयम का वाध वाध लिया जाए तो जीवनी शक्ति शतगुणित हो सकती है।

जो व्यक्ति जीवन के प्रवाह को रोकने मे सफल हो जाता है, वह दिशा वदलने की क्षमता अर्जित कर लेता है तथा जीवन का सार पा लेता है। अन्यथा वह किसी के पास वैठे, किसी के मार्गदर्शन मे साधना करे और कितने ही नए प्रयोग करे, मजिल तक पहुच नही सकता।

जीवन की दिशा वदलने का सवसे वडा साधन है—अतीत की विस्मृति और भविष्य की अकृति। अतीत मे जो कुछ घटित हुआ और उसकी कितनी ही घटनाए स्मृति-पट पर अकित हुई, उन्हे सर्वथा विस्मृत करना होगा, स्मृति-पट को धोकर साफ करना होगा। इसके वाद मनुष्य के सामने रहता है अज्ञात के गर्भ मे छिपा भविष्य। उस भविष्य की चिन्ता मे वर्तमान का धागा हाथ से निकल जाता है और वह भविष्य मे उलझा रहता है। भविष्य की चिंता अतीत की स्मृति से भी अधिक खतरनाक है। इसलिए भविष्य को वनाना ही नही है। अतीत और भविष्य दोनो से मुक्त होने के वाद शेष

रहता है वर्तमान का एक क्षण। एक क्षण मे जीना शुरू कर देना दिशा के वदलाव की सही सूचना है।

दिशा वदलने के लिए और कुछ हो या नही, मन को शिक्षित करना होगा, वाध्य करना होगा। वाध्य भी इस प्रकार कि मन को चलना है तो अमुक दिशा मे ही चलना है, अन्यथा उसे अमन वनाकर छोडना है। चले तो समिति का मार्ग तैयार है। न चले तो वह शात होकर वैठ जाए, गुप्त हो जाए। इन दोनो मे से एक का चुनाव करने के लिए मन को उसी प्रकार वाध्य कर देना है, जैसे वह भिखारी स्वर्णपात्र देने के लिए वाध्य हो गया।

एक भिखारी भीख माग रहा था। उसके हाथ मे विलक्षण स्वर्णपात्र था। लोग उसे भिक्षा दे रहे थे, पर उनका मन स्वर्णपात्र पाने के लिए ललचा रहा था। कुछ व्यक्तियो ने भिखारी के सामने प्रस्ताव रखा—तुम चाहो जो ले लो, यह स्वर्णपात्र हमे दे दो। भिखारी वोला—मैं यह स्वर्ण-पात्र आपको दे सकता हू। विना कुछ लिये दे सकता हू। पर दूगा उसी को जो कोई नई वात सुनाए। ऐसी नई जिसे मैने आज तक कभी नही सुना।

कई व्यक्ति नई वात सोचने लगे। कुछ व्यक्तियो ने नई वात वताई भी, पर भिखारी ने कहा—यह तो श्रुतपूर्व है। सुनी हुई वात सुनकर मै अपना स्वर्णपात्र नही दूगा। आखिर एक व्यक्ति आगे आकर वोला— मैं विलकुल नई वात सुनाऊगा। भिखारी ने मन मे सोचा—कितनी ही नई वात हो, मैं कह दूगा—यह तो मेरी सुनी हुई है। फिर यह क्या ले पाएगा? भिखारी ने कहा—सुनाओ। वह व्यक्ति वोला —

तुज्झ पिता मम पिउणो धारेति अणूणत सतसहस्स।
जदि सुतपुव्व दिज्जतु अह ण सुत खोरय देहि॥

तेरे पिता ने मेरे पिताजी से पूरे एक लाख रुपए का ऋण लिया था। यह वात तुम्हारी सुनी हुई है? यदि यह वात श्रुतपूर्व है तो अपने पिता का ऋण चुकाओ, मुझे एक लाख रुपए दो। यदि तुमने यह वात कभी भी नही सुनी है तो इस अश्रुतपूर्व वात सुनने के उपलक्ष्य मे तुम्हारा स्वर्णपात्र दो।

भिखारी कुछ भी नही वोल सका। वह स्वर्णपात्र देने के लिए वाध्य हो गया। हम भी अपने मन को वाध्य कर दें। हमे जो कुछ वनना है उसका

मानसिक चित्र बनाकर अपनी निर्णय शक्ति को पुष्ट करते रहे। लक्ष्य-निर्धारण के बिना अनिश्चय की स्थिति बनी रहती है। अनिश्चय की स्थिति मे विचार पुष्ट नही होते। विचारो की पुष्टि बिना मन को वैसा करने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। जब तक मन को बाध्य नही किया जाता है, वह अमन नही बन सकता। मन के अमन बने बिना अमन पाने की कल्पना ही अर्थहीन है। इसलिए व्यक्ति वर्तमान मे जो कुछ है उससे विशिष्ट बनना चाहता है तो पहले मन को साधना सीखे। साधा हुआ मन ही जीवन की दिशा बदलने मे सहयोगी बन सकता है।

के लिए उसने रत्न वनवाए। कृत्रिम ही थे वे रत्न। उन रत्नो को साथ लेकर वह भरत क्षेत्र के छहो खण्डो पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए निकल पडा। चलते-चलते वह वैताढ्य पर्वत की तिमिसगुफा तक पहुच गया। आगे रास्ता वद था। उसने अपना नामाकित तीर फेंका। देवता का आसन प्रकम्पित हुआ। वह प्रकट होकर बोला—कौन हो तुम ? क्यो आये हो यहा ? कौणिक वोला—मै चक्रवर्ती कौणिक हू। मुझे रास्ता दो। देव ने उपयोग लगाया। उसने देखा—इस युग मे होने वाले वारह चक्रवर्ती हो चुके है। तेरहवा चक्रवर्ती हो नही सकता। यह कोई गलत और धोखेवाज व्यक्ति है। इसे रास्ता तो देना ही नही है, यही समाप्त कर देना है। यह सोचकर उसने शस्त्र चलाया और उसी समय कौणिक को प्रतिहत कर दिया। वह मृत्यु को प्राप्त कर छठी नरकभूमि मे उत्पन्न हुआ।

सीमा-वोध के अभाव मे किया गया सकल्प फलीभूत नही होता है। इसलिए अपनी क्षमता, उपयोगिता और सीमा का सही वोध कर लक्ष्य का निर्धारण किया जाए और अनवरत मानसिक उत्साह से उस दिशा मे वढने का प्रयत्न हो तो प्रगति के सारे द्वार अपने आप खुल जाएगे।

धर्म की शरण : अपनी शरण

आराधना का एक द्वार है—शरण की स्वीकृति। हर ससारी प्राणी अपनी सुरक्षा के लिए शरण की खोज करता है और उपयुक्त शरण मिलने पर उसे स्वीकार भी कर लेता है। बहिर्दर्शी व्यक्ति अपने पारिवारिक जनो को शरण मानता है। परिवार के लोग किसी सक्षम सदस्य को शरण मानते है। किन्तु "नाल ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमपि तेसिं नाल ताणाए वा सरणाए वा।" वे तुम्हे त्राण और शरण देने मे समर्थ नही है और तुम उनको त्राण या शरण देने मे समर्थ नही हो। यह आगम-वाणी मनुष्य को अपनी सही स्थिति का वोध देती है। वह जव चारो ओर से अत्राण और अशरण होकर असहाय हो जाता है, उस समय उसकी अन्तर्मुखी चेतना मे चार प्रकार की शरण आविर्भूत होती है। अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म। ये चार तत्त्व ऐसे है, जो व्यक्ति को शाश्वत शरण दे सकते है। इन चारो शरणो मे तीन तत्त्व किसी अपेक्षा से पर भी हो सकते है किन्तु चौथा तत्त्व धर्म अपना निजी ही है। इसकी शरण मे जाने के लिए और कोई अपेक्षा नही केवल अपनी वृत्तियो को मोडने की जरूरत है।

धर्म क्या है ? जो सवको समता और शाति का पाठ पढाए वह धर्म है। जिस धर्म के सहारे सुख-सुविधा के साधन जुटाए जाते है, प्रतिष्ठा की कृत्रिम भूख को शात किया जाता है, प्रदर्शन और आडम्वर को प्रोत्साहन दिया जाता है, उस धर्म की शरण स्वीकार करने से शाति नही मिल सकती। ऐसा धर्म समता का सूत्र नही दे सकता। धर्म की व्याख्या मे अव तक हजारो ग्रन्थ लिखे जा चुके है, पर उनमे धर्म का सही रूप परिभाषित नही हो सका। क्योकि अधिक व्याख्याकारो ने अपनी धारणा के परिवेश

प्रगति का प्रथम सूत्र

प्राणीमात्र मे सुख, शाति और आनन्द उपलब्ध करने की चाह स्वाभाविक है। मनुष्य मे वह कुछ अधिक विकसित होती है। क्यो कि वह सुख और आनन्द के नए-नए मार्गो की खोज कर सकता है। 'जिन खोजा तिन पाइया' जो खोज करेगा, वह पाएगा। यह एक निर्विवाद सिद्धात है पर खोज तो उसी को करनी होगी जिसे कुछ पाना है। भौतिक जगत मे इससे विपरीत भी घटित हो सकता है। खोजे कोई और पाए कोई। आविष्कार कोई करे और उसका भोग कोई दूसरा ही करे। पर आत्म-जगत मे ऐसा कुछ होने का नही। वहा सुख और शाति पाने का रास्ता किसी दूसरे के हाथ मे नही है। अपने द्वारा अपना कल्याण, अपने द्वारा अपनी उपलब्धि, यही तो है शाश्वत सुख की दिशा का अव्याबाध मार्ग। इस मार्ग को खोजने और उस पर अविश्रान्त भाव से चलने की तैयारी हो तो ठीक। अन्यथा 'उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ' उठो यहा से। यहा तो वे ही व्यक्ति आ सकते है जो प्रयोक्ता है और अपने जीवन मे निरन्तर प्रयोग करते रहते है।

निरन्तर प्रयोग करने का उत्साह प्रगति के लिए पहला सूत्र है। कैसा उत्साह ? जो कभी मद न हो पाए। उत्साह का दीप निरन्तर जलकर ही निराशा के सघन तिमिर को हटा सकता है। आपको पता है अभव्य मोक्ष क्यो नही जाता ? उसमे कभी मुक्त होने की इच्छा ही प्रकट नही होती। यदि एक क्षण के लिए मुमुक्षा जागृत हो जाए, मुक्ति के लिए उत्साह का दीप जल जाए तो वह व्यक्ति कभी अभव्य रह नही सकता। मन मे किंचित् भी उत्साह न हो और साधना के लिए इच्छा व्यक्त करे, वह मात्र धोखा है, प्रवचना है।

कितना मूल्यवान् है प्रगति का यह सूत्र। इसमे न तपस्या की जरूरत है, न कष्ट सहने की जरूरत है और न इच्छाओ को दमित करने की जरूरत है। बस देखना है अपने आपको, पर देखना है पूरी प्रामाणिकता के साथ। देखना स्वय को ही है, दूसरे को नही। जो व्यक्ति स्वय को देखता रहता है, उसके जीवन मे अवाछनीय तत्त्वो का प्रवेश नही हो सकता। जिस घर का मालिक जागरूक रहता है, देखता रहता है, उस घर मे चोर नही घुसते। कभी घुस भी जाए तो वे चोरी नही कर सकते। चोर चोरी तभी करते है जव घर के लोग प्रमत्त हो, सुप्त हो या घर छोडकर कही चले गए हो।

मानसिक उत्साह का अर्थ है करणीय कार्य के प्रति ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मनोभव का योग। जो काम करना है, एकान्तत वही करना है। दूसरा कोई विकल्प ही सामने न रहे। जो कुछ करना है, आत्यन्तिक रूप से करना है। जव तक वह काम न हो जाए तव तक करना है। पर यह सब तभी हो सकता है जव व्यक्ति अपनी क्षमता, उपयोगिता और सीमा का वोध करके लक्ष्य का निर्धारण करे। अपनी क्षमता और सीमा को समझे विना भावावेश मे किया गया सकल्प वहुत वडा दुष्परिणाम ला देता है।

राजा कौणिक एक वार भगवान् महावीर के पास गया। उसने प्रवचन सुना और भगवान् से एक प्रश्न पूछा—भन्ते! चक्रवर्ती मृत्यु को प्राप्त कर कहा जाता है? भगवान् ने उत्तर दिया—कौणिक! कोई भी चक्रवर्ती सम्राट् चक्रवर्तीपन मे मृत्यु को प्राप्त करता है तो वह सातवी नरक-भूमि मे जाकर उत्पन्न होता है। भन्ते! मैं कहा उत्पन्न होऊगा? यह कौणिक का दूसरा प्रश्न था। भगवान् ने कहा—तुम छठी नरक भूमि मे उत्पन्न होओगे। मैं सातवी नरक-भूमि मे क्यो नही जाऊगा? कौणिक के इस तीसरे प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—कौणिक तुम चक्रवर्ती नही हो। कौणिक ने इसका प्रतिवाद किया तो भगवान् ने वताया कि चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न होते है। तुम स्वय को चक्रवर्ती कहते हो, तुम्हारे पास वे रत्न कहा हैं? आगम साहित्य मे चर्चा है कि कौणिक ने चक्रवर्ती वनकर सातवी नरकभूमि मे उत्पन्न होने का संकल्प किया। इस सकल्प की पूर्ति

मे उसे व्याख्यायित किया है। मेरे अभिमत स धर्म का अर्थ है स्वभाव। स्वभाव को उपलब्ध करने के लिए उसमे रमण करने की जरूरत है। जो व्यक्ति अपने स्वभाव मे रमण कर लेता है, वह धर्म की शरण पा लेता है। उसे अपनी शरण उपलब्ध हो जाती है।

धर्म या स्वभाव-रमण का एक सूत्र है—पदार्थ प्रतिवद्धता का अभाव। कोई व्यक्ति अभाव या अतिभाव के कारण पदार्थ से प्रतिवद्ध नही होता है, यह वास्तव मे धर्म नही है। अभाव मे जो व्यक्ति सग्रह नही करता है, वह त्यागी नही होता। इसी प्रकार अतिभाव मे पदार्थ का विसर्जन करने वाला भी त्यागी नही हो सकता।

जैन ग्रन्थो मे एक उदाहरण आता है शालिभद्र का। वह एक दिन पहने हुए कपडो को दूसरे दिन काम मे नही लेता था। एक दिन काम मे लिए हुए आभूपण दूसरे दिन नही पहनता था। इसका अर्थ यह नही है कि पदार्थ के प्रति उसकी आसक्ति नही थी। आसक्ति का विसर्जन वही कर सकता है जो धर्म के सही स्वरूप को समझ लेता है। धर्म को समझने का अर्थ यह नही है कि व्यक्ति की सब प्रकार की प्रतिवद्धताए टूट जाती है। सत्य, सयम या स्वभाव की प्रतिवद्धता तो हर क्षण काम्य है। इसलिए पदार्थ की प्रतिवद्धता के साथ उसे नही जोडना चाहिए।

धर्म किसी सम्प्रदाय की सीमा म वधा हुआ नही है। वह कही भी उपलब्ध हो सकता है। ऋषि-मुनियो के पास धर्म होता है, वह गृहस्थो के पास भी मिल सकता है।

किसी समय एक युवक सन्यासी के पास गया और वोला—मुझे शाति का रास्ता दिखाओ। सन्यासी ने तटस्थता दिखाई और मौन का आलम्वन लेकर उसे विदा कर दिया। कुछ दिनो वाद वह फिर आया। सन्यासी ने उसे डाटते हुए कहा—मैं तुम्हारे लिए निकम्मा नही वैठा हू। कुछ दिन वाद वह फिर लौट आया। सन्यासी ने देखा—इसमे तडप है। वह वोला—जाओ, अमुक व्यापारी के पास जाओ और कम-से-कम सात दिन वहा रहो।

युवक सीधा व्यापारी के कार्यालय मे पहुचा। वहा कई व्यक्ति काम कर रहे थे। वही-खाते सभाले जा रहे थे। आय-व्यय का हिसाव हो रहा था। व्यापारी स्वय उसमे फसा हुआ था। युवक ने सोचा—कहा फस

गया ? यहा शाति का रास्ता कौन बताएगा ? किसे अवकाश है वताने का ? और किसके पास रखी है शाति ? पर करे भी क्या सन्यासी का आदेश था कि सात दिन रहना है।

युवक को वहा बैठे-बैठे तीन दिन बीत गए। सहसा मुनीम एक पत्र लेकर आया और अकुलाहट के साथ बोला—सेठजी ! गजब हो गया। हुआ क्या ? सेठ के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनीम बोला—'विदेश से आने वाले जिस जहाज मे हमारा लाखो का माल था वह अब तक पहुचा नही है। मौसम विशेषज्ञो के अनुसार समुद्र मे तूफान आया था। तूफान मे जहाज डूब गया, यही सभव लगता है।'

सेठ बोला—'मुनीमजी ! इसमे घबराने की क्या बात है ? डूब गया तो डूब गया। व्यापार मे हानि-लाभ होता ही रहता है।' सेठ की इस बात ने युवक को भी रस आया। वह सोचने लगा—कैसा आदमी है यह ? इस पर तो कोई असर ही नही।

तीन दिन बाद वही मुनीम फिर आया। इस बार उसके चेहरे पर खुशी झलक रही थी। वह भावावेश मे उछलता हुआ बोला—'सेठजी ! जहाज पहुच गया। सारा माल सुरक्षित है इतना ही नही, वह दुगुने मूल्य मे विक गया।' सेठ ने उसे टोकते हुए कहा—मुनीमजी ! यह क्या पागल-पन है ? व्यापार मे उतार-चढाव आता ही रहता है। आप किस वात की खुशी मना रहे है ?

युवक को शाति का मार्ग उपलब्ध हो गया। वह सन्यासी के पास पहुच कर बोला—आपने बडी कृपा की। मुझे ऐसे स्थान पर भेजा जहा जीवन का दर्शन मिल गया, धर्म का रहस्य मिल गया, शाति का मार्ग मिल गया। ऐसा धर्म ही वास्तविक शरण है। हम इसी धर्म की शरण स्वीकार करते है, जो हमे समता से जीना सिखता है।

आत्म-प्रशंसा का सूत्र

धर्म की एक धारणा है—परनिन्दा और आत्म-प्रशसा नही करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा वही कर सकता है जो मोहावेश से आविष्ट हो। उपशातमोह या क्षीणमोह व्यक्ति न आत्मश्लाघा कर सकता है और न दूसरो की निन्दा ही कर सकता है। मोह का आवेश जितना प्रवल होता है, यह वृत्ति उतनी ही पुष्ट हो जाती है।

मनोविज्ञान की धारणा के अनुसार आत्म-ख्यापन मनुष्य की सहज वृत्ति है। ऐसा व्यक्ति कोई शायद ही मिले, जिसमे अपने आपको ख्यापित करने की भावना न हो। ऐसी स्थिति मे धर्म ने एक दूसरी धारणा दी। उस धारणा के अनुसार आत्म-प्रशसा और परनिन्दा करना अपराध नही है। व्यक्ति जी भरकर आत्म-प्रशसा करे और परनिन्दा करे। किन्तु अपने और पराए के स्वरूप का सही वोध होना आवश्यक है। अपना क्या है ? जीवन मे जो-जो अच्छा है, सुकृत है, वह अपना है और जो-जो वुरा है, दुष्कृत है वह पराया है। इस सन्दर्भ मे आत्म-प्रशसा का अर्थ है प्रशस्त की प्रशसा। फिर चाहे वह अपना हो या पराया। इसी प्रकार परनिन्दा मे 'पर' शव्द अप्रशस्त का वाचक है। अप्रशस्त वृत्ति, अप्रशस्त कर्म अपना हो या पराया त्याज्य है, निन्दनीय है। जो व्यक्ति सुकृत-प्रशसा और दुष्कृत-निन्दा का यह सूत्र सीख लेता है, उसका किसी के साथ विरोध या विद्रोह नही हो सकता।

जिस व्यक्ति का केवल सुकृत से अनुवध रहता है और दुष्कृत से विरोध होता है, वह प्रकृति मे रहना सीख लेता है। पर मुश्किल तो यह है कि मनुष्य विकृति को ही प्रकृति मानकर वैठ जाता है। अनादिकाल से यह

क्रम चल रहा है। इस क्रम को वदलने के लिए अपेक्षा इस वात की है कि आज तक जो कुछ सोचा, समझा और स्वीकार किया है उसे छोड दिया जाए। अपने मन और मस्तिष्क को सर्वथा खाली कर नए सिरे से चिन्तन शुरू किया जाए। विकृति को छोडकर प्रकृति मे जीने का सकल्प स्वीकार किया जाए।

जो व्यक्ति अध्यात्म के स्तर पर जीना चाहता है, उसे विकृति और प्रकृति का विश्लेपण करना ही होगा। वर्षों से वनी हुई आदत को वदलना ही होगा। जव तक यह आदत नही वदलती है, विकृति मे प्रकृति का आभास होता रहेगा। एक पौराणिक कहानी से इस तथ्य को समझा जा सकता है।

इन्द्र और शची मनुष्य लोक की यात्रा पर थे। वे एक गाव के मध्य मे गुजरे। उसमे वसने वाले लोग वहुत दुखी थे। अपनी दुख-दुविधा को लेकर उनकी शिकायतो की सूची इतनी लम्वी थी कि उसे पढना भी कठिन हो गया। इन्द्र ने देखकर अनदेखा कर दिया। पर शची की दृष्टि वही केन्द्रित हो गई। वह इन्द्र को सम्वोधित कर वोली—आप शक्ति-सपन्न है, सव-कुछ करने मे समर्थ है, इस क्षेत्र के लोगो को सुखी वना दो।

इन्द्र शची के आवेदन को सुनकर वोला—तुम्हारी भावना को मैं समझता हू। पर ये लोग सुखी नही वन सकते। इसलिए इनकी चिन्ता छोड दो। शची ने सोचा—इन्द्र टालना चाह रहा है। उसने आग्रह किया। आखिर इन्द्र को झुकना पडा। उसने प्रथम प्रयोग की दृष्टि से एक व्यक्ति को अपने साथ ले लिया। स्वर्ग में पहुचकर उस व्यक्ति को सारी सुविधाए देकर अच्छे ढग से जीने के लिए कहा गया। उसके लिए व्यवस्थाए इतनी सुदर थी कि कभी शिकायत का अवसर ही नही आया।

समय वीतता गया। स्वर्ग मे वह व्यक्ति खुश था। छह मास व्यतीत होने पर शची ने इन्द्र से कहा—आप कह रहे थे कि ये लोग सुखी नही वन सकते। इनकी शिकायतें वरकरार रहेगी। पर इस व्यक्ति ने कभी कोई शिकायत नही की। अव इसकी वह पुरानी आदत वदल गई है।

इन्द्र ने कहा— इसे पुन मनुष्य-लोक मे भेजना है। एक वार यहा वुलाकर थोडी पूछताछ कर लो। मनुष्य आया। इन्द्र ने पूछा—क्या

चाहते हो ? उसने घर जाने की इच्छा व्यक्त की। इन्द्र ने फिर पूछा—तुम्हे यहा कैसा लगा ? वह बोला—'भालो, भालो, अति भालो, पर—किछु कम भालो होत तो भालो। अच्छा, अच्छा, बहुत अच्छा, पर कुछ कम अच्छा होता तो अच्छा होता।'

इन्द्र ने शची की ओर देख मुसकराकर कहा—बदल गई आदमी की आदत ? शची सकुचाती हुई बोली—आपका कथन बिलकुल ठीक है। नीचे स्तर पर जीने वाले लोग अपनी विकृतियो को छोड नही सकते। विकृति से मुक्त होने के लिए आवश्यक है व्यक्ति दुष्कृत की निंदा करता रहे। इसके लिए एक सूत्र है—'मिच्छामि दुक्कड' मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। भावनात्मक स्तर पर दुष्कृत से मुक्त होने वाला व्यक्ति वास्तव मे ही उससे मुक्त हो सकता है।

१० जुलाई, १९८०

जो सब-कुछ सह लेता है...

निर्ग्रन्थ कौन होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे 'आयारो' का एक सूक्त है 'सीउसिणच्चाई मे णिग्गथे' निर्ग्रन्थ वह होता है जो शीत और उष्ण को सहन कर लेता है। शीत और उष्ण का अर्थ केवल सर्दी-गर्मी ही नही है। जो सव प्रकार की अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओ को सह लेता है, वह निर्ग्रन्थ शब्द की गरिमा को धारण कर सकता है।

सामान्यत निर्ग्रन्थ उसे कहते है जो परिग्रह से मुक्त होता है। पर यहा परिग्रह वहुत नीचे धरातल पर रह जाता है। उससे आगे जो राग-द्वेष की ग्रन्थिया हैं, कपाय का वलय है, उसे तोडने वाला साधक निर्ग्रन्थ वन सकता है। इस भूमिका तक पहुचाने वाला कोई तत्त्व है तो वह है समता। समता और मैत्री एक ही सिक्के के दो पहलू है। समना एक शक्ति है। इसे क्षमता-सम्पन्न व्यक्ति ही सजोकर रख सकते है। अक्षम व्यक्ति समता-विहीन होते हैं। वे किसी भी परिस्थिति से प्रतिहत हो सकते है। उनमे सहनशीलता नही होती, इसलिए वे मैत्री के मत्र की आराधना नही कर सकते।

निर्ग्रन्थ के कई लक्षण हैं। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और सत्य भी उसके लक्षण हैं। पर इन सवका समावेश समता मे हो जाता है। जीवन मे समता है तो ये सव गुण विकसित हो जाते है। समता के अभाव में इनकी अवस्थिति नही हो सकती। ममता की सीमा का अतिक्रमण करते ही इन सवका लोप हो जाता है। यह निश्चय की भूमिका है।

व्यवहार की भूमिका मे समता का पर्याय है मैत्री। वह एक सापेक्ष तत्त्व है। किसी व्यक्ति के प्रति विरोध, अवहेलना, अनादर या आक्रोश

का भाव जग जाए उससे क्षमा की याचना करना और अपने प्रति किसी दूसरे द्वारा किए गए ऐसे व्यवहार के लिए क्षमा देना मैत्री है। यह उन लोगो के लिए है, जो व्यवहार-जगत् मे जीते है। व्यवहार के धरातल से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की मैत्री किसी के प्रति नही होती। उसका आदर्श होता है—'मित्ती मे सव्वभूएसु' विश्व के समस्त प्राणी, फिर वे कितने ही छोटे या बड़े क्यो न हो, उनके प्रति समत्व की अनुभूति। यह एक प्रकार की आत्म-शक्ति है। इसका विकास सवमे नही हो सकता। जिन्होने मैत्री की शक्ति का पूरा विकास कर लिया, उनके लिए ससार मे कोई अमित्र हो ही नही सकता। वे ऐसे अमृत का सिचन करते है, जिससे शत्रुता का विप धुल जाता है और व्यक्ति अमृतमय बन जाता है।

आचार्य भिक्षु समता के महान् साधक थे। उनके जीवन मे मैत्री की अविरल धारा वहती रहती थी। वे किसी को उपालम्भ देते और उसस किसी का मन आहत हो जाता तो वे मैत्री की ऐसी अमोघ धारा प्रवाहित करते कि सामने वाला व्यक्ति अभिभूत हो जाता।

एअ वार आचार्य भिक्षु के प्रिय शिष्य मुनि हेमराजजी भिक्षा लेकर आए। भिक्षा मे उडद और मूग की दाल को एक साथ मिला लिया गया था। आचार्य भिक्षु ने उपालम्भ के स्वर मे कहा—'हेमडा ! यह तुमने क्या किया ? उडद और मूग की दाल साथ मिलाकर लाने की होती है ?' मुनि हेमराजजी वोले—'दाल दाल तो एक ही होती है। इसे मिलाने मे क्या दोष है ?' आचार्य भिक्षु ने देखा कि हेमराज को अपनी गलती का अनुभव नही हो रहा है इसलिए उन्होने कडाई के साथ कहा—'यदि किसी साधु को ज्वर हो तो ऐसी दाल का उपयोग हो सकता है ?'

छोटी-सी वात थी। मुनि हेमराजजी के मन मे लग गई। वे एक ओर जाकर चद्दर ओढ लेट गए। भोजन का समय हो गया। आचार्य भिक्षु ने देखा—सव साधु भोजन करने आ गए है, पर हेमराज नही आया है। उन्हे पहले से ही यह अनुमान था, इसलिए आश्चर्य नही हुआ। वे वोले—हेमराज कहा है ? सतो ने कहा—वे लेटे हुए हैं। आचार्य भिक्षु ने उन्हे सम्वोधित करते हुए कहा—हेमडा ! ओ हेमडा ! क्या कर रहा है ? लेटे-लेटे तू गलती अपनी देख रहा है या मेरी ? अपने आचार्य के वात्सल्य भरे

वोल सुन मुनि हेमराजजी का उद्विग्न मन शात हो गया। वे तत्काल उठे और गुरु-चरण मे प्रणत होकर वोले—प्रभो! गलती तो मेरी ही थी। आचार्य ने प्रसन्न मन से उन्हे भोजन करने के लिए कहा। उनके मन का ताप ढल चुका था। गुरु की सन्निधि मे उनका कण-कण पुलकित हो उठा। गुरु की मैत्री-धारा या समत्व के सिंचन ने शिष्य को निर्ग्रन्थ वनने की दिशा मे अग्रसर कर दिया।

११ जुलाई, १९८०

अर्हत् बनने की दिशा

आज शिविर का पहला दिन है। कोई भी काम पहली वार किया जाता है तव उसमे कुछ कठिनाई का अनुभव हो सकता है, पर संकल्प की दृढता और लगन—ये दो ऐसे तत्त्व हैं जो हर कठिनाई को सुगम बना देते है। यहा सवसे अधिक कठिन काम है ध्यान का नियमित प्रयोग। ध्यान मे शरीर और मन दोनो की स्थिरता अपेक्षित है। यह स्थिरता किसी वाहरी प्रयोग से नही, भीतर से ही आ सकती है। इसके लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास किया जाता है। सामान्यत. कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर का शिथिलीकरण। किन्तु यह इसका अधूरा अर्थ है। कायोत्सर्ग शब्द की अर्थ-यात्रा मे सहनशीलता तथा अभय—इन दो शब्दो को और जोड़ना होगा। क्योंकि शरीर का उत्सर्ग वही व्यक्ति कर सकता है जो अभय है। मन के किसी भी कोने मे भय की चेतना परिस्पन्दित है तो व्यक्ति शरीर के प्रति निरपेक्ष नही हो सकेगा। अभय वही वन सकेगा जिसमे सहन करने की क्षमता विकसित होगी। अध्यात्म की साधना मे अभय और सहिष्णुता का विशेष मूल्य है। इस मूल्य को वही समझ पाता है जो अध्यात्म की गहराई मे उतरता है। रत्न उसी को मिलते है जो समुद्र के तल तक पेठता है। अध्यात्म की गहराई मे जाने वाला व्यक्ति स्वय अध्यात्म वन जाता है। यह तद्रूप परिणति का सिद्धान्त जैन दर्शन का ही नही, मनोविज्ञान का भी है। गुस्से मे ओतप्रोत व्यक्ति स्वय गुस्सा वन जाता है। कपाय-परिणत आत्मा कपाय आत्मा कहलाती है। इसी प्रकार प्रसन्नता मे परिणत आत्मा भीतर और वाहर दोनो ओर से प्रसन्नता विकीर्ण करने मे समर्थ हैं। वृत्तियो के परिणमन की घटनाए अविलम्व घटित होती है।

एक वार स्वामी रामतीर्थ जापान की राजधानी टोकियो मे थे। वहा किसी समय स्वामीजी को एक परिचित व्यक्ति मिला। उसकी आखो मे आसू वह रहे थे और चेहरे पर निराशा की झलक थी। स्वामीजी ने पूछा—क्या वात है ? वह सुवकता हुआ वोला—स्वामीजी ! क्या वताऊ, कारखाने मे आग लग गई। लाखो की सम्पत्ति जलकर भस्म हो गई। व्यापार चौपट हो गया...इसी वीच एक युवक दौडता हुआ आया और वोला—पिताजी ! कारखाना जला है, यह वात सही है। पर आपको ज्ञात होगा, वह कारखाना हमने वेच दिया। यह वात सुनते ही उस व्यक्ति के चेहरे पर चमक आ गई। वह रोना भूल गया और स्वामीजी से हस-हस कर वात करने लगा। इतने मे ही एक दूसरा युवक वहा पहुचकर वोला—पिताजी ! गजव हो गया। कारखाने मे कुछ भी नही वचा है। अव तक भी आग पर नियत्रण नही हो पाया है...पिता उसे वीच मे ही टोककर वोला—चिंता क्यो करते हो ? वह कारखाना तो हमने वेच दिया। युवक ने कहा—पिताजी ! उसे वेचा कहा है ? वेचने की वात चली थी, पर लिखित रूप से कोई मुद्दा निर्णीत नही हुआ, इस स्थिति मे सामने वाला इतना नुकसान क्यो उठाएगा ? पुत्र की वात सुनते ही पिता की आखो के आगे अधेरा छा गया। उसकी खुशी उदासी मे परिणत हो गई।

स्वामीजी उस व्यक्ति की वदलती हुई मनोदशा पर विस्मित थे। तटस्थ व्यक्ति का ऐसे प्रसग पर विस्मित होना अस्वाभाविक नही है। किन्तु यह एक यथार्थ है जो परिणमन के सिद्धात का सवादक है। मै आपसे पूछना चाहता हू कि जव ऐसी परिणतिया हो सकती है तो अर्हत् रूप की परिणति क्यो नही हो सकती ? अर्हत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर उस दिशा मे पर्याप्त पुरुषार्थ किया जाए तो उसकी निष्पत्ति मे किसी प्रकार के सन्देह को अवकाश नही है। अध्यात्म साधक विशेष रूप से भावक्रिया का प्रयोग करता रहे तो वह अपने लक्ष्य की ओर आगे वढ सकता है।

प्रियता में उलझें नहीं

मनोज्ञता और अमनोज्ञता पदार्थ मे नही, मनुष्य के मन मे होती है। जव तक मन इस द्विधा मे उलझा रहता है, समत्व की साधना नही कर सकता। समत्व का भाव जागे विना ज्ञान चेतना का परिपूर्ण विकास नही हो सकता। परिपूर्ण ज्ञान की वात एक क्षण के लिए न भी करे तो भी शाति भारहीनता और स्वास्थ्य—ये तीन तत्त्व ऐसे है जिनकी उपलव्धि के लिए समत्व की साधना करनी ही होगी। ये तीनो चीजें ऐसी है, जिन्हे आप चाहते है; हम चाहते है, और सव चाहते है। हमारी चाह यदि सच्ची है तो हमे समत्व के मार्ग से गुजरना ही होगा।

हमारे तीर्थंकरो ने समत्व की साधना की थी। जो साधना उन्होंने की थी वही हमारे लिए करणीय है। वे हमारे आदर्श है। हम अपने आदर्श को केवल देखते रहे, इससे काम नही होगा। हमे भी वैसा ही पुरुषार्थ करना होगा। क्योंकि हमारा और उनका लक्ष्य एक है। गन्तव्य की एकता मे गमन की दिशाए भिन्न कैसे हो सकती है? हमारे तीर्थंकरो के जीवन का हर क्षण समता से अनुप्राणित था। इसका अर्थ यह नही है कि वे अच्छी-बुरी सव चीजो को एक दृष्टि से देखते थे। पदार्थ मे अच्छाई भी होती है और बुराई भी। अच्छाई के प्रति प्रियता और बुराई के प्रति अप्रियता का भाव उत्पन्न होने से समता खडित होती है। अच्छे-बुरे हर पदार्थ के प्रति एक तटस्थ दृष्टिकोण का निर्माण समत्व की दिशा मे आगे वढना है। प्रियता और अप्रियता मे जो भेद है, उस भेद को न समझना भूल है तो उसमे उलझना भी भूल है। भेद मे व्यक्ति उलझे नही। जो स्थिति जैसी है, उसे उसी रूप मे स्वीकार कर चले तव समत्व विकसित होता है।

जो तत्त्व जैमा है, उसे उसी रूप मे जानना ज्ञान का विपय है। साधक हर तत्त्व का ज्ञान करे, पर सवेदन न करे, उलझे नही। जैन आगम दशवैकालिक मे लिखा है—"महुघय व भुजेज्ज सजए"। मुनि को कडवा, तीखा, कसैला, आम्ल, मधुर, लवण जो भी रस उपलब्ध हो उसका मधु-घृत की तरह उपभोग करे। इसका नाम है खाद्य-सयम। इसमे भोजन केवल भूख निवारण के लिए होता है, स्वाद के लिए नही।

प्रश्न हो सकता है कि भोजन का स्वाद न ले, इससे क्या लाभ है? पशु-पक्षी भी तो अखाद्य को नही खाते, फिर मनुष्य जैसा विवेकी प्राणी सवेदन को कैसे रोक ले? प्रश्न ठीक है। इस सम्बन्ध मे मैं इतना ही कहूगा कि पशु-पक्षी भेद करते है खाद्य-अखाद्य का और मनुष्य भेद करते है स्वाद्य-अस्वाद्य का। कितना बडा अन्तर है यह। मनुष्य अपने मन को साध ले तो यह भेद स्वय समाप्त हो सकता है। मन की आसक्ति टूट जाने के बाद पदार्थ मूल्यवान रहता ही नही है।

किसी समय की बात है। ग्रामीण दम्पति जगल से लकडी काटकर लौट रहा था। पति-पत्नी दोनो ही अर्थ के प्रति अनासक्त थे। पेट पालना उनके जीवन की अनिवार्य अपेक्षा थी। पर सग्रह के नाम पर वे सर्वथा अकिंचन थे। उस दिन पति आगे चल रहा था और पत्नी पीछे। मार्ग मे एक सोने का आभूषण पडा था। पति ने देखा और सोचा—स्त्रियो का आभूषणो के प्रति मोह होता है। मेरी स्त्री भी इसमे उलझ न जाए, इसलिए उस आभूषण को धूलि के नीचे दवा दिया। तव तक स्त्री भी वहा पहुच गई थी। उसने पूछा—क्या कर रहे हो? पति ने सही बात वता दी। पत्नी दुखित होती हुई बोली—मैं तो सोचती थी मेरे पति पहुचे हुए आदमी है, पर आप तो बच्चो जैसी भूल कर रहे है। हमने पारस्परिक समझ के आधार पर यह निश्चित कर लिया कि सोना मिट्टी है। आपने उस सोने को मिट्टी से ढक दिया, इसका अर्थ यह है कि आप मिट्टी और सोने मे भेद कर रहे है, अन्यथा मिट्टी को मिट्टी से ढकने का क्या प्रयोजन?

इस प्रसग से यह तथ्य स्पष्ट है कि व्यक्ति के मन मे सोना मिट्टी है तो

उसके प्रति आकर्षण स्वय समाप्त हो जाता है। वाह्य पदार्थ के प्रति आकर्षण कम होने से, ममत्व समाप्त होने से शाति, स्वास्थ्य और भार-हीनता स्वत उपलब्ध हो जाती है, फिर इनके लिए कुछ करने की अपेक्षा नही होती।

प्रेय और श्रेय

प्रेय से श्रेय की ओर अतियात्रित होना अपने आप मे वहुत वडी क्राति है। प्रेय के माध्यम से श्रेय तक पहुचना तो और भी वडी क्राति है। इस क्राति को घटित करने से पहले ज्ञातव्य यह है कि प्रेय क्या है और श्रेय क्या है ? एक दृष्टि से मुझे प्रेय और श्रेय मे कोई अन्तर प्रतीत नही होता। हमने सयम स्वीकार किया। सामान्यत सयम की परिगणना श्रेय मे होती है, पर क्या यह अभिप्रेय नही है ? जो सयम श्रेय है वह प्रेय भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि शब्दो मे विसगतिया होती है। भाव अशब्द है, अरूप है। जव हम उसे शब्द या रूप की सीमा मे वाधेंगे तो वह अपने अस्तित्व को आशिक अभिव्यक्ति ही दे सकेगा। शब्द सकेत है, उसके माध्यम से भाव को समझा जाता है, इष्ट को समझा जाता है और गन्तव्य को समझा जाता है।

श्रेय क्या है ? ससार मे जो कुछ विनश्वर है उसे छोडते जाओ और शाश्वत को पाते जाओ। पराए को छोडते जाओ और स्वय को पाते जाओ। स्वय को पाना भी क्या है ? वह तो है ही, उसे पहचानना-भर है। जिस क्षण स्वय की पहचान हो गई, श्रेय स्वय साकार हो जाएगा।

श्रेय और प्रेय की चर्चा प्राचीन साहित्य मे वहुत है। जैन साहित्य मे भी ऐसे प्रसग भरे पडे है। वहा श्रेय को अन्तर जगत् के साथ जोडा गया है और प्रेय को दृश्य जगत् या वहिर्मुखता से। व्यक्ति को वहिर्मुखी वनाने वाला प्रेय उसे भटका देता है। गणधर गौतम ने वर्षो तक साधना की। उन्हे केवलज्ञान उपलव्ध नही हुआ। उनके पास दीक्षित होने वाले सैकडो मुनि केवलज्ञानी वन गए। गौतम इस स्थिति से अधीर हो उठे। फिर भी वे केवल ज्ञान नही पा सके। महावीर के चौदह हजार शिष्यो मे सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण मुनि थे गणधर गौतम। पर उनमे महावीर के प्रति प्रियता का भाव था, जो केवलज्ञान के बीच मे अवरोध बनकर खडा हो गया। जब तक महावीर रहे, उन्हे ज्ञान उपलब्ध नही हुआ। महावीर मुक्त हो गए, फिर भी जब तक उनके प्रति होने वाली प्रियता नही मिटी, अवरोध भी नही टूटा। जिस क्षण प्रियता की कड़िया टूटी, उसी क्षण गौतम केवलज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठे।

प्रेय अन्तर्मुखता की दिशा मे बाधा है। यह बाधा हर साधक के सामने है, फिर श्रेय की ओर गति कैसे हो सकती है? हो सकती है गति, पर इसके लिए समर्पण की आवश्यकता है। जब तक श्रेय को द्वीप, त्राण, शरण, गति और प्रतिष्ठा नही माना जाएगा, वह उपलब्ध नही होगा। जो व्यक्ति समर्पित हुए हैं वे श्रेय को पा गए। ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सामने है। आचार्य भिक्षु श्रेयोऽर्थी थे। भगवान् महावीर की वाणी पर वे कितने मुग्ध थे, कहा नही जा सकता। उनकी स्तुति मे मैंने एक पद्य कहा है—

मीरा रो सावरियो साई,
राम नाम पर तुलसीदास दीवानो।
म्हारो रे सावरो जिन-वाणी पर,
वण्यो रह्यो परवानो।

मीरा कृष्ण के प्रति समर्पित थी, तुलसीदासजी राम के नाम पर दीवाने थे। इसी प्रकार हमारे भिक्षु स्वामी जिन-वाणी रूप दीपक पर परवाने थे। उनके एकमात्र आराध्य वही थे। श्रीमज्जयाचार्य आचार्य भिक्षु के प्रति समर्पित थे। चलते-फिरते, बोलते-लिखते उनमे भिक्षु-ही-भिक्षु बसे हुए थे। क्योकि उन्हे उस माध्यम से ही श्रेयोऽभिमुखता की प्रतीति हुई थी। जिस किसी को श्रेयोऽभिमुख बनना है, समर्पित होना ही होगा। श्रेय को पाने के लिए एक धुन सवार हो जाए, पागलपन छा जाए, तो श्रेय दूर रह ही नही सकता।

आत्मानुशासन का सूत्र

मसार के किसी भी प्राणी को परतन्त्रता काम्य नही है, पर स्वतत्र कोई नही है। हो भी नही सकता। क्योकि चाहने और न चाहने मात्र से स्वतत्रता आती नही है। परतन्त्रता का सही वोध और स्वतत्र वनने की गहरी तडप— ये दो वाते जव तक नही होती है, स्वतत्रता नही मिल पाती। एक व्यक्ति दस साल से कैद मे है। वहा रहते-रहते वह इतना अभ्यस्त हो गया है कि उसे कैद मे वन्धंन की प्रतीति होती ही नही है। उस व्यक्ति को मुक्त कर दिया जाए तो भी वह वापिस वही पर जाना चाहेगा। यह स्थिति किसी एक व्यक्ति की नहीं, अधिकाश व्यक्ति इसी प्रवाह मे वह रहे हैं। वे दुनियावी आकर्षणो मे इतने मुग्ध हो गए है कि भीतरी जगत में रमण करना उन्हे रुचता ही नही है। जिन लोगो मे ऐसी अभिरुचि जागृत हो जाती है, जिन्हे एक वार भी आन्तरिक दृश्य दिखाई दे जाते है, जो आत्मानुशासन का आनन्द भोग लेते है, वे स्वतत्रता की दिशा मे आगे वढ सकते हैं।

आत्मानुशासन क्या है ? गणधर सुधर्मा ने आर्य जम्बू को सम्वोधित कर कहा—"अणुसिट्ठि सुणेह मे।" मेरी अनुशासना सुनो। मेरे द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त करो। अनुशासन का अर्थ है प्रशिक्षण। वह जव तक परकृत होता है, अनुशासन कहलाता है। उसमे स्व का योग जुडते ही वह आत्मानुशासन वन जाता है।

काल की एक सीमा तक दूसरो से प्रशिक्षण लेना पडता है, वाह्य निमित्त के आधार पर चलना पडता है। वाहरी आलम्वन की अपेक्षा जितनी क्षीण होती है, आत्मानुशासन उतना ही विकसित हो जाता है।

पर जव तक आत्मानुशासन का विकास नही होता है, वाह्य आलम्वन का सहारा लेना जरूरी है। इन आलम्वनो मे सवसे वडा आलम्वन है गुरु। चैतन्य जागरण की प्रक्रिया का वोध पाने के लिए गुरु का मार्ग-दर्शन मिलता है। निश्चय मे आत्मा ही अपना गुरु है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा का स्वरूप है। जिस आत्मा की ज्ञान-चेतना, दर्शन-चेतना और चारित्र-चेतना जागृत हो जाती है, वह आत्मा स्वय पथदर्शन पा लेती है। किन्तु जव तक यह स्थिति उपलब्ध न हो अथवा साधक व्यवहार की भूमिका पर ही चल रहा हो, उसे सव कुछ गुरु से पाना होता है। इस दृष्टि से देव, गुरु और धर्म का भी अपना महत्त्व है। देव आदर्श होते है। धर्म उस आदर्श तक पहुचने का मार्ग है और गुरु उस मार्ग पर चलने के लिए पथदर्शन देने वाले है।

गुरु का अनुशासन शिष्य को आत्मानुशासन की दिशा मे अग्रसर करने वाला महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके वीज का हृदय मे वपन कर अध्यात्म की पौध उगाई जा सकती है। इसके लिए शरीर और मन दोनो को साधने की जरूरत है। शरीर को साधने के लिए आसन और मन को साधने के लिए ध्यान का प्रयोग आवश्यक है। ये प्रयोग निरन्तर होते रहे तो हर साधक आत्मानुशासित हो सकता है।

आलम्बन, स्वावलम्बन और निरालम्बन

साधना का प्रथम और अन्तिम विन्दु एक ही है। प्रथम विन्दु मे चैतन्य का अनुभव होता है और अन्तिम विन्दु मे भी चैतन्य का अनुभव होता है। प्रथम अनुभव प्रारम्भिक होता है इसलिए अपूर्ण होता है। अन्तिम अनुभव के वाद कुछ अवशिष्ट नही रहता, इसलिए वह पूर्ण होता है। प्रथम अनुभव मे मूर्च्छा की ग्रन्थिया टूटने लगती हैं और अन्तिम अनुभव मे ग्रन्थि नाम का कोई तत्त्व रहता नही है। प्रथम अनुभव अपूर्व होता है, इसी प्रकार अन्तिम अनुभव भी अपूर्व होता है। दोनो अपूर्वताओ की एक सीमा है। साधक इस सीमा को समझता है, इसलिए वह प्रथम अनुभूति का आलम्वन लेकर आगे वढता है और अन्तिम अनुभूति मे सव आलम्वनो को छोडकर अपने आप मे खो जाता है।

हर साधक का अन्तिम लक्ष्य है—निरालम्बन वनना। पर साधना के प्रारम्भ मे वह आलम्वन के विना चल नही सकता। आलम्वन किसे नही चाहिए ? कुछ लोग कहते है कि बुढापे मे आलम्वन की अपेक्षा रहती है। मैं उन्हे पूछना चाहता हू कि क्या वचपन मे आलम्वन नही चाहिए ? वच्चो को आलम्वन चाहिए तो क्या तरुणो को नही चाहिए ? हर दम्पति परस्पर एक दूसरे के लिए आलम्वन होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वचपन, यौवन या वुढापा कोई भी अवस्था हो आलम्बन के सहारे ही व्यक्ति आगे वढता है।

साधना के क्षेत्र मे भी आलम्वन का अपना मूल्य है। वह आलम्वन कोई वाक्य हो सकता है, कोई पद्य हो सकता है, कोई शब्द हो सकता है, चैतन्य का कोई भी केन्द्र हो सकता है और मूर्ति भी हो सकती है। आलम्वन

आलम्बन ही है। उनकी अपेक्षा तब तक है जब तक मंजिल न मिल जाए। मंजिल प्राप्त होने के बाद आलम्बन को पकडकर बैठना उचित नही है। ऊपर चढने के लिए सीढियो की जरूरत है, क्योकि उस आलम्बन के बिना चढना सम्भव नही है। किन्तु उपर चढ जाने के बाद भी सीढियो को पकड-कर खडे रहना कोई बुद्धिमत्ता नही है।

कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते है जो बिना आलम्बन ही ऊपर चढने की क्षमता रखते है। बाह्य दृष्टि से ये व्यक्ति निरालम्बन होते है, किन्तु सूक्ष्मता से देखा जाए तो आत्मविश्वास या अपनी विशेष क्षमता का आलम्बन पाए बिना कोई व्यक्ति ऐसा कर ही नही सकता।

ध्यान के साधक आलम्बन लेते है। शुक्ल ध्यान मे स्थूलरूप मे कोई आलम्बन नही रहता, पर अपनी चेतना का आलम्बन वहा भी लिया जाता है। विकास की अन्तिम सीढियो पर भी सूक्ष्म या सहज आलम्बन रहता है, वैसी स्थिति मे साधना के प्रारम्भ काल मे उसे नकारने का कोई प्रश्न ही नही है।

सयम, तप, जप, सकल्प, स्वाध्याय, ध्यान आदि ऐसे तत्त्व है जो साधना के मार्ग मे बहुत बडे आलम्बन है। इन आलम्बनो के सहारे चलते-चलते एक दिन हमे निरालम्बन बन जाना है। पर जब तक नही बनते है, इन आलम्बनो को सावधानी से पकड़कर रखना है। निरालम्बन बनने की स्थिति उपलब्ध न हो और आलम्बन सारे छूट जाए, उस स्थिति मे व्यक्ति दिग्मूढ हो जाता है। इसलिए आवश्यता के अनुसार आलम्बनो का सहारा लेकर स्वावलम्बन की दिशा से गुजरना है। यह अपना आलम्बन भी उस क्षण छूट जाएगा, जिस क्षण आत्मा सूक्ष्म शरीर की पकड से सर्वथा मुक्त होकर आत्मा मात्र बनकर रह जाएगी।

जीने का दर्शन

जीवन का भी अपना एक दर्शन होता है। यह दर्शन सव दर्शनो से अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योकि इससे सही जीवन जीने की कला प्राप्त होती है। जीवन का पूरा विज्ञान निहित है इस दर्शन मे। जो व्यक्ति इस दर्शन को पढ लेता है, समझ लेता है और जी लेता है वह बाहर और भीतर दोनों ओर से वदल जाता है। वदलाव तो ऐसे भी हो सकता है, पर ऐसे जो होता है उसमे सव कुछ उल्टा होता है। एक अन्तर्दर्शी वहिर्दर्शी वन जाता है, करुण क्रूर वन जाता है, और ज्ञानी अज्ञानी वन जाता है।

एक फोटोग्राफर के मन मे विचार उठा—"एक व्यक्ति का फोटो लू, जो सर्वथा शान्त हो, उसकी मुद्रा सौम्य हो और उसमे महावीर की झलक हो।" विचार को क्रियान्वित करने के लिए वह निकल पडा घर से। कई गावो और शहरो मे घूमा उपयुक्त व्यक्ति की खोज करने के लिए, आखिर उसे एक व्यक्ति मिल गया। विलकुल शान्त, सुशील और सौम्य था वह। फोटो लिया। वहुत सुन्दर चित्र वन गया। उसे देखने मात्र से दर्शक के मन को शान्ति मिलती थी।

कुछ समय वाद उसी फोटोग्राफर के मन मे आया—"एक ऐसे व्यक्ति का चित्र तैयार करू जो सवसे अधिक क्रूर और आततायी हो।" वह ऐसे व्यक्ति की खोज मे घूमने लगा। हजारो व्यक्तियो से सम्पर्क करने के वाद उसे अपनी कल्पना के उपयुक्त व्यक्ति मिल गया। कमरा हाथ मे लेकर वह उसके पास पहुचा और उसका फोटो लेने मे सफल हो गया। चित्र देखा तो लगा उसके रोम-रोम से क्रूरता टपक रही है।

जिस व्यक्ति का चित्र लिया गया, उसने फोटोग्राफर से पूछा—मेरा

फोटो क्यो ले रहे हो ? उसने अपना सकल्प बताया और उसके साथ ही वीस साल पहले लिया हुआ वह दूसरा चित्र भी उसे दिखा दिया। चित्र देख-कर वह व्यक्ति अट्टहास कर उठा। फोटोग्राफर ने विस्मित होकर पूछा—यह क्या हो गया आपको ? वह व्यक्ति वोला—यह चित्र भी मेरा है। इस कथन के साथ ही उसने उस समय और स्थान के वारे मे सव कुछ सही-सही वता दिया।

जिन लोगो ने उन दो चित्रो को देखा और सुना कि ये दो चित्र एक ही व्यक्ति के है, वे सव चकित थे। पर इसमे आश्चर्य जैसी कोई वात नही है। क्योकि वृत्तियो मे वदलाव आने से व्यक्ति की आकृति भी वदल जाती है। भीतरी वदलाव जितना अधिक होता है, वह उतनी ही स्पष्टता से चेहरे पर अकित हो जाता है। पर ऐसे वदलाव से किसी भी व्यक्ति का हित नही हो सकता। इसलिए जीवन-दर्शन को समझना जरूरी है। जीवन का दर्शन जितना विशद होता है, वृत्तिया उतनी ही उदात्त हो जाती हैं। वृत्तियो के वदलाव से व्यवहार मे वदलाव आता है। यह वदलाव निरन्तर अच्छाई की दिशा मे होता रहे तो जीवन का समग्र दर्शन अधिगत हो सकता है। जिस क्षण समग्रता से जीवन जीना आ जाएगा, उसी क्षण साधक अपने आपको सही रूप से पहचान पाएगा।

समता का प्रयोग

साधना का पथ निर्बाध नही है। वहा मुसीवते आती है। वाहर से भी आती है और भीतर मे भी आती है। जो साधक उनसे घवरा जाता है, वह पीछे लौट आता है। जो उनका मुकावला करता है, वह उन्हे प्रतिहत कर सकता है पर कभी-कभी वह स्वय भी आहत हो सकता है। वाहरी मुसीवतो से सीधी टक्कर होती है, पर भीतरी मुसीवते अप्रत्याशित रूप से आक्रमण करती है। उस आक्रमण को विफल करने के दो उपाय है—उपशम और क्षय। उपशम का अर्थ है दवाना या उपशात करना। इसमे आक्रान्ता वृत्ति का अस्तित्व समाप्त नही होता, पर वह कुछ समय के लिए दव जाती है। क्षय मे वह वृत्ति पूर्णत समाप्त हो जाती है। यह स्थिति शुक्लध्यान के द्वारा प्राप्त होती है। क्योकि यह उपादान पर सीधा प्रहार करता है। वर्तमान मे शुक्लध्यान की ऊचाई तक पहुचना संभव है क्या ? इस सदेह के कारण पुरुषार्थ को छोडने वाला साधक दिग्भ्रान्त वन जाता है। पुरुषार्थ-हीन व्यक्ति कभी कुछ पा ही नही सकता। पूर्णता की प्राप्ति समय सापेक्ष होती है, पर उसके लिए अभी से पुरुपार्थ न किया जाए तो बाद मे पूर्णता आएगी कहा से ? भावी पर्याय को पाने का पुरुषार्थ अभी और इसी क्षण होना जरूरी है, अन्यथा केवल स्वप्निल कहानी का अर्थ ही क्या है ? एक-एक सीढी आगे वढने से ही तो मजिल मिलेगी। एक साथ सव सीढियो को लाघने की क्षमता नही है, यह ठीक है। पर अभी तो मजिल मिलेगी नही, यह सोचकर रुकने वाला व्यक्ति क्या कभी भी मजिल तक पहुच सकता है ?

साधना के क्षेत्र मे आगे वढने के लिए पहला सूत्र है समता का

अभ्यास। समता का अभ्यास किस सदर्भ मे ? निन्दा, स्तुति, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण कोई भी स्थिति हो, मन का सन्तुलन नही टूटना चाहिए। निन्दा सुनकर उत्तेजित न होने वाले व्यक्ति फिर भी मिल सकते है, पर अपनी प्रशसा सुन उससे अप्रभावित रहना वहुत कठिन वात है। कठिन है पर असभव नही है। निंदा मे सतुलन वना रह सकता है तो प्रशसा मे क्यो नही रह सकता ? एक चावल हाथ मे लेने से पता चल जाता है कि चावल पके हुए है या नही। इसी प्रकार एक स्थिति मे सन्तुलन रह जाता है तो यह विश्वास हो जाता है कि किसी भी स्थिति मे सन्तुलित रहा जा सकता है।

साधक समाज मे जीता है। सामाजिक वातावरण का उस पर प्रभाव होता है। ऐसी स्थिति मे उसे यह नही भूल जाना चाहिए कि वह सामाजिक होने के साथ-साथ एक व्यक्ति भी है। समाज का वहुत वडा मूल्य है, पर हकीकत व्यक्ति है। व्यक्ति स्वय को व्यक्ति मानकर चले तो वह किसी भी स्थिति के लिए परिस्थिति या समाज को दोषी न ठहराकर स्वय ही सहन करने का प्रयास करेगा।

श्री राम मुनिधर्म मे दीक्षित होकर साधना मे लग गए। एक वार वे ध्यान मे लीन थे। उस समय वारहवें स्वर्ग का इन्द्र उनकी परीक्षा लेने आया। उसने सीता का रूप वनाया, वसत ऋतु की विक्रिया की और हाव-भाव विलास से राम को विचलित करने का प्रयत्न किया। किन्तु वे एक क्षण के लिए भी उससे प्रभावित नही हुए। इन्द्र के सारे प्रयत्न अनदेखे और अनसुने कर वे अपनी आत्मा को देखते रहे। उन्हे परीक्षा मे सफलता मिली। ऐसी सफलता उन सवको मिल सकती है जो व्यक्तिगत परिवेश मे मान-अपमान, सुख-दु ख आदि को समभाव से सह जाते है। सहना धर्म है, सहना उपशम और श्रेय की दिशा मे गति है, सहना साधना की पहली और अन्तिम सीढी है। इसलिए साधक को सहिष्णु वनकर उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का अनुभव करना चाहिए।

भीतरी वैभव

हमारे सामने दो प्रकार के जगत है—अन्तर्जगत् और वहिर्जगत्। वहिर्जगत् मे जो कुछ है, स्पष्ट है। उसके लिए मनुष्य जीवन-भर दौडधूप करता रहता है। पर अन्तर्जगत् मे जो वैभव है उसका सही अनुमान किसी को है? जिस व्यक्ति को अपने अन्तर्जगत् के वैभव का अनुमान नही है, वह इस ससार मे सवसे अधिक विपन्न रहता है। जव तक उस वैभव का वोध नही होता, तव तक व्यक्ति भटकता रहता है। उसे जान लेने के वाद सव कुछ अकिंचित्कर हो जाता है। अर्हतो की अन्तर्‌सम्पदा पूर्ण रूप से विकसित होती है। उनके जीवन मे कही कोई अभाव नही रहता। उनकी आन्तरिक समृद्धि की चर्चा पढने और सुनने वाले विस्मित रह जाते है।

वैशेपिक मत के प्रवर्तक महर्षि कणाद अन्वर्थनामा थे। 'कण अत्तीति कणाद' वे भिक्षा के लिए घर-घर मे नही घूमते थे। खेतो मे विकीर्ण कणो को चुन-चुनकर वे अपनी शरीर-यात्रा का निर्वाह करते थे। राज्य के एक वरिष्ठ व्यक्ति ने उनको इस प्रकार पेट पालते देखा। उसने सम्राट् के पास जाकर कहा—आपके राज्य मे कितनी अव्यवस्था है। यहा के भिखारी खेतो मे विखरे धान्य-कण खाकर जीवन निर्वाह करते हैं। सम्राट् को यह वात वहुत वुरी लगी। उन्होने अपने एक कर्मचारी के हाथ एक हजार स्वर्ण-मुद्रा कणाद के पास भेजी। पर उन्होने स्वर्ण-मुद्राए लेने से इन्कार कर दिया। सम्राट् का महामत्री वहा गया। उसने अधिक स्वर्ण-मुद्राए देनी चाही, पर कणाद ने उनकी ओर आख उठाकर भी नही देखा। विचित्र भिखारी था वह। इस सवन्ध मे सम्राज्ञी को पता चला तो उसे भी आश्चर्य हुआ। उसे कुछ जानकार सूत्रो से ज्ञात हुआ कि कणाद रहता तो भिखारी

की तरह है, पर वडा विलक्षण व्यक्ति है वह। और तो क्या वह सोना वनाने की कला भी जानता है। सम्राज्ञी ने यह सवाद सम्राट् को सुनाया तो वह उससे मिलने के लिए उतावला हो गया। कणाद को राजसभा मे वुलाने के स्थान पर सम्राट् स्वय उनके पास गया। कणाद के चरणो मे सिर झुकाकर सम्राट् बोला—महाराज! आपके पास स्वर्ण सिद्धि है? कणाद ने स्वीकृति दी। सम्राट् वोला—मुझे वताओगे? कणाद ने पूछा—क्यो? सम्राट् ने उत्तर दिया—राज्य के कोष को समृद्ध वनाने के लिए मुझे सोने की जरूरत है। कणाद मुसकराते हुए वोले—मैं आपको कुछ वताऊ, उससे पहले यह वताओ कि भिखारी कौन है? आप या मै? केवल सम्राट् कहलाने से कोई सम्राट् नही होता। सम्राट् वह होता है जिसके मन की लालसा समाप्त हो जाए। सम्राट् महर्षि के चरणो मे प्रणत हो गया।

वास्तव मे भिखारी वह होता है, जिसे स्वय की पहचान नही होती। जो अपने अन्तर्जगत् के वैभव को देख नही पाता, वही वाहरी वैभव को पाने के लिए उत्सुक रहता है। अन्तर्जगत् के वैभव की चर्चा आगमो मे उपलब्ध है। उस समय अनेक साधको के पास आमर्पौषधि, जल्लौषधि, मलौषधि आदि अनेक प्रकार की लब्धिया थी। वर्तमान मे वे लब्धियां नहीं हो सकती, ऐसी बात नही है। आज भी शक्ति है, पर सबके पास नही है। सबको ज्ञात नही है। शक्ति के लिए साधना होनी भी नहीं चाहिए। साधना मे जो कुछ उपलब्ध होने का है, वह निश्चित रूप से हो सकता है। उसके लिए निरन्तर अभ्यास करने की अपेक्षा है। अभ्यास भी एक जन्म मे नहीं अनेक जन्मों तक करना होगा। अभ्यास काल मे धृति भी रखनी होगी। धैर्य के साथ पुरुपार्थ करने वाला साधक सब कुछ पा लेता है। प्रेक्षा ध्यान का प्रयोग साधना का एक अभिनव उपक्रम है। इसके द्वारा अपने आपको देखने की दिशा उपलब्ध होती है। जो स्वय को देख लेता है वह और भी वहुत कुछ देख सकता है और प्राप्त कर सकता है।

स्वास्थ्य

मानव मात्र की एक आकाक्षा होती है—स्वस्थ जीवन। आत्मा, मन और शरीर तीनों की स्वस्थता स्वास्थ्य की पूर्णता है। आत्मरमण, सन्तुलन और नीरोगता आत्मा, मन और शरीर के स्वास्थ्य की पहचान है। प्राचीन आचार्यो ने स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए लिखा है—

'प्रसन्नात्मेन्द्रियमना . स्वस्थ इत्यभिधीयते'

शारीरिक स्वास्थ्य ही स्वास्थ्य नही है। वह एक तत्त्व है। उसका पूरक तत्त्व है मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य। जिस व्यक्ति की आत्मा, इद्रिया और मन प्रसन्न-निर्मल है, वही वास्तव मे स्वस्थ है।

आत्मा स्वस्थ कैसे हो सकती है ? मन की स्वस्थता से। जिस समय आत्मा का अनुगामी मन स्वस्थ होता है तव आत्मा अपने-आप स्वस्थ हो जाती है। मन स्वस्थ, प्रसन्न या निर्मल तव होता है जव उसकी सहगामिनी इद्रिया प्रसन्न होती है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि स्वस्थ होने के लिए एक प्रकार के वर्तुल का निर्माण करना जरूरी है। वह वर्तुल निर्मित हो जाता है तो स्वास्थ्य कही जा नही सकता है। परिवार मे पूरा 'सम्प'—मेलजोल है तो सम्पदा कही जा नही सकती। इसी प्रकार स्वास्थ्य के उपादान को स्वस्थ वना लेने के वाद अस्वास्थ्य की छाया का स्पर्श भी नही हो सकता।

एक श्रेष्ठी के घर वहुत लम्बे समय तक प्रवास करने के वाद लक्ष्मी ने वहा से प्रस्थान करना चाहा। उसने रात्रि मे सेठ को दर्शन देकर कहा—सेठजी! मैं अव जाना चाहती हूं। सेठ यह वात सुन चिंतित हो गया।

दूसरे दिन अपने श्वसुर को चिन्तित देख पुत्रवधू ने पूछा—पिताजी ! आप चितित क्यो है ? सेठ ने रात की घटना उसे सुना दी। पुत्रवधू ने कहा—आप चिन्ता न करें। सब ठीक हो जाएगा। आप एक वार लक्ष्मी को मेरे स मिला दें। सेठ का मन कुछ हल्का हुआ। दूसरे दिन रात्रि मे लक्ष्मी जाने के लिए तैयार होकर आई। सेठ ने कहा—जाने से पूर्व तुम मेरी पुत्रवधू से मिल लो। पुत्रवधू ने लक्ष्मी का साक्षात्कार किया। लक्ष्मी ने उसके सामने भी अपने जाने की वात दोहराई तो वह वोली—देवीजी ! आप पधारो, रास्ता खुला है। पर एक वात तो वता दो कि यहां आपका मन लगा या नही ? यहा आपको कोई तकलीफ तो नही हुई ? लक्ष्मी मुसकराती हुई वोली—मुझे यहा कोई तकलीफ तो नही है, पर मेरा मन एक स्थान मे नही लगता, इसलिए मुझे जाना पड़ेगा। सेठ की पुत्रवधू विनम्रता के साथ वोली—आप हमारे घर मे रहकर सन्तुष्ट है तो जाते समय एक वरदान तो दे दे। लक्ष्मी यह सुनकर वोली—तुम वर मागो, पर मुझे मत मागना। पुत्रवधू ने कहा—देवीजी ! हमे 'सम्प'—प्रेम देकर जाइए।

लक्ष्मी श्रेष्ठी की पुत्रवधू का चातुर्य देखकर चकित हो गई। वचनवद्ध होने के कारण उसे वरदान देना ही था। पर वह वरदान ऐसा था जिसे देने के वाद वह उस परिवार को छोडकर भी नही जा सकती थी। पर अव करे भी क्या ? उसने प्रशसा भरी आखो से पुत्रवधू की ओर देखकर कहा—पुत्री ! तुमने मुझे छल लिया। सम्प को छोडकर मैं जाऊगी भी कहा ? वह मेरी अनन्य सखी है। उसके विना तो एक क्षण भी रहना मुश्किल है। चाहने पर भी लक्ष्मी वहा से नही जा सकी।

यही वात मै स्वास्थ्य पर घटित करता हू। जिस व्यक्ति की आत्मा, मन और इन्द्रिया प्रसन्न हैं, वह कभी स्वास्थ्य को खो नही सकता। स्वास्थ्य है तो साधना की भी सुविधा है। साधना के अनेक रूप है। अपनी क्षमता के अनुसार किसी भी रूप को स्वीकार कर साधना की जा सकती है।

धर्म के क्षेत्र मे भी स्वस्थता की अपेक्षा है। अस्वस्थधर्म साधना के लिए उपयोगी नही हो सकता। वैसे धर्म अपने आप मे स्वस्थ ही होता है, पर धार्मिक लोगो के असामान्य व्यवहारो से उसका रूप विकृत हो जाता है। इसी प्रकार के विकार-ग्रस्त और लड़खड़ाते धर्म को त्राण देने के लिए

समय-समय पर धर्मक्रांतिया हुई हैं। तीन दशक पूर्व हमने भी एक धर्मक्रांति की। धर्म को सम्प्रदाय से मुक्त कर जीवन के हर क्षण मे व्याप्त करने के उद्देश्य से हमने जनता के सामने अणुव्रत की वात कही। एक दृष्टि से अणुव्रत की वात महत्त्वपूर्ण है, पर इसमे भी अधूरेपन की प्रतीति हुई तव हमने प्रेक्षाध्यान की वात उठाई। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक-दूसरे के वैसे ही पूरक है, जैसे शरीर और आत्मा परस्पर पूरक है। शरीर-शून्य आत्मा सिद्ध वन जाती है और आत्मा-शून्य शरीर मृत हो जाता है। हमारे व्यवहार जगत मे स्वतत्र रूप से इन दोनो का ही कोई उपयोग नही है। इसलिए दोनो के योग का मूल्य है।

अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान भी परस्पर अनुवधित रहकर समूचे विश्व का भला कर सकते है। इस दृष्टि से अणुव्रती व्यक्ति के लिए प्रेक्षाध्यान का अभ्यास आवश्यक है और प्रेक्षाध्यानी के जीवन मे अणुव्रत आचार-सहिता का प्रयोग आवश्यक है। ऐसा होने से ही हम धर्म को तेजस्वी, चेतनामय, जीवित, जागृत, ज्योतिर्मय और प्रायोगिक वनाने मे सफल हो सकते है।

साधना के प्राथमिक लाभ

साधना जीवन की एक प्रक्रिया है। इसमे गुजरने वाला हर व्यक्ति सोचता है कि मैं जो कुछ कर रहा हू, उसका लाभ क्या है? साधना चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक उसमे लाभ की अभीप्सा रहती ही है। आध्यात्मिक साधना के साथ भौतिक लाभ की कामना वाछनीय नही है। इसलिए इसके आध्यात्मिक लाभ पर ही विचार किया जा रहा है।

साधना का पहला लाभ है दृष्टि की शुद्धि। दृष्टि दो प्रकार की होती है—स्वाभाविक और कृत्रिम। स्वाभाविक दृष्टि मे वस्तु का प्रतिबिम्ब वैसा ही पडता है, जैसी वह होती है। कृत्रिम दृष्टि होती है शुद्ध दृष्टि पर रगीन चश्मा चढाने से। जिस रंग का चश्मा पहना हुआ होता है, पदार्थ भी वैसा ही दिखाई देता है। इस चश्मे को उतार दिया जाए तो दृष्टि वस्तु के सही स्वरूप को पकड लेती है।

मनुष्य जिस आख से अपनी पत्नी को देखता है, उसी आख से पुत्री को देखता है। पर देखने-देखने मे बहुत बडा अन्तर रहता है। बिल्ली अपने बच्चो को जिस आख से देखती है, उसी आख से चूहो को देखती है। बच्चों के प्रति उसके मन मे सहज प्यार उमडता है, पर चूहो को देखते ही उसका मन आक्रामक हो जाता है। यह दृष्टि का ही तो अन्तर है। पदार्थ के भोग की भी पृथक-पृथक दृष्टिया होती है। एक व्यक्ति शरीर चलाने के लिए पदार्थ का भोग करता है, दूसरा व्यक्ति उसके साथ आतरिक आसक्ति को जोड लेता है। क्रिया एक ही है, पर दृष्टिकोण के अन्तर से उसकी परिणति मे कितना अन्तर आ जाता है।

दृष्टि शुद्ध होने के बाद मन को साधने की अपेक्षा है। सधा हुआ मन

दूसरे को भी प्रभावित कर सकता है। सन्त तुकाराम का नाम प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उनकी साधना इतनी पुष्ट हो गई थी कि विना कुछ कहे उनके जीवन का असर हो जाता था।

एक वार उनके घर कोई चोर घुस गया। घर के पिछवाडे मे भैस वधी थी। भैस को खोलकर वह अपने साथ ले गया। थोडी ही दूर चला होगा कि उसके विचार बदल गए। उसका मन अनुताप से भर गया। वह वापिस लौटा। भैस को यथास्थान बाधकर घर मे गया। तुकाराम उस समय कीर्तनघर मे कीर्तन कर रहे थे। चोर ने वहा जाकर उनके पाव पकड लिये और अपने अपराध के लिए माफी मागी।

सन्त तुकाराम ने उसकी मन स्थिति को पढकर कहा—भाई! तुझे भैस की जरूरत थी, ले जाते। वापिस क्यो ले आए उसे? वह मेरे काम आए या तेरे काम आए, इसमे क्या फर्क पडता है? चोर यह सुनकर गद्गद हो गया। एक चोर को चोर की दृष्टि से न देखकर जरुरतमन्द की दृष्टि से देखना दृष्टि-शोधन का ही परिणाम है।

दृष्टि-शुद्धि और मन शुद्धि के वाद व्यवहार-शुद्धि का भी अपना मूल्य है। क्योकि किसकी दृष्टि कैसी है? किस का मन कैसा है? इसका पता साधारण जन को कैसे लगे? वह तो व्यवहार के आधार पर व्यक्ति का अकन कर सकता है। शरीर-शुद्धि और इन्द्रिय-शुद्धि भी साधना के प्राथमिक परिणाम है। इन सव परिणामो को समझकर सलक्ष्य साधना करने वाला साधक लाभान्वित होता रहता है।

आत्मा का आधार

वाती जलती है और प्रकाश करती है पर उसे जलने के लिए दीवट की अपेक्षा रहती है। दीवट न हो तो वाती टिके कहा ? दीवट का प्रकाश के साथ कोई सवध नही है । दीवट मिट्टी या धातु का पात्र है और प्रकाश है एक पौद्गलिक शक्ति। सामान्यत दोनो मे कोई सवध नही है, फिर भी प्रकाश को अपना अस्तित्व वनाए रखने के लिए कोई आधार चाहिए। प्रकाश का आधार है वाती, घी या तेल। और वाती तथा घी या तेल का आधार है दीवट।

ससारी आत्मा को भी अपना अस्तित्व टिकाए रखने के लिए इन्द्रियो और शरीर का आधार चाहिए। इन्द्रियो के माध्यम से आत्मा देखती है, सुनती है, सूघती है, चखती है और शीत, ताप आदि का अनुभव करती है। शरीर आत्मा की अभिव्यक्ति का साधन है। शरीर न हो तो आत्मा अव्यक्त रहती है, इसलिए शरीर को भी समझना आवश्यक है।

शरीर के तीन प्रकार है—स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम । औदारिक शरीर स्थूल है। यह मास, रुधिर, हड्डिया आदि स्थूल पदार्थो से वना हुआ है। आहारक और वैक्रिय शरीर भी स्थूल माने गए है। क्योकि इनके निर्माण मे भी स्थूल पुद्गलो का उपयोग होता है। तैजस शरीर सूक्ष्म होता है। इस शरीर का काम है—पाचन और ताप। कार्मण शरीर सूक्ष्मतम है। यह चतुस्पर्शी कर्म वर्गणाओ मे निष्पन्न होता है, इसलिए पौद्गलिक होने पर भी चर्मचक्षुओ द्वारा अगम्य है।

धार्मिक लोगो ने शरीर को क्षणभगुर ही नही, निस्सार और अशुचि वताया है। उन्होने शरीर को जी भरकर कोसा है, पर यह एकागी दृष्टि-

कोण है। शरीर हेय है, किसी एक दृष्टि से। इसके साथ दूसरी दृष्टि जब तक नही जुडेगी, शरीर की अच्छाइयो की ओर ध्यान नही जाएगा। माना कि शरीर नाशमान है, त्याज्य है। पर इसके द्वारा कितनी शक्तिया प्राप्त हो सकती है, यह तथ्य भी तो उपेक्षणीय नही है।

मानव शरीर मे मन है--चेतन मन और अवचेतन मन है, मस्तिष्क है, पृष्ठरज्जु है, भृकुटि है, नाभि है, चक्र है। कितनी काम की है ये सारी चीजें। तैजस शक्ति भी इसी शरीर मे है। तैजस शक्ति के दो रूप है—अनुग्रह और निग्रह। शीतल तेजोलेश्या अनुग्राहक है और उष्ण तेजोलेश्या निग्राहक है। यह शक्ति जिन्हे उपलब्ध हो जाती है, वे वडे-से-वडा अनुग्रह और निग्रह करने मे सक्षम हो जाते है।

जो व्यक्ति इस शरीर मे कमिया ही कमिया देखते है, वे इससे लाभान्वित नही हो सकते। इसमे अन्तर्निहित शक्तियो को देखने और समझने वाले व्यक्ति ही शरीर को उपयोगी वना सकते है। शरीर उपयोगी है, इतना ही नही विलक्षण भी है। इसकी रचना कितनी विचित्र होती है। वैज्ञानिको ने इतना विकास किया है, पर मानव-शरीर का निर्माण करने मे वे भी सक्षम नही है। ऐसे विलक्षण और शक्ति-सपन्न शरीर से लाभ उठाने वाले व्यक्ति ही आत्मा को पा सकते है। आत्मा के आधार को उपेक्षित करने वाले उसकी शक्तियो का भी सही उपयोग नही कर सकते। इसलिए शरीर को कोसने की अपेक्षा उसे सूक्ष्मता से समझने की जरूरत है।

आत्मा-परमात्मा

आत्मा और परमात्मा का अविनाभावी सम्वन्ध है। आत्मा के विना परमात्मा का अस्तित्व नही है और परमात्मा के विना आत्मा और है ही क्या? आत्मा ही अनेक सीढियो को पार कर परमात्मा वनती है। दुरात्मा, सदात्मा, महात्मा, महामहात्मा—ये सव आत्मा के ही रूप है। इन सव अवस्थाओ को अतिक्रान्त कर आत्मा परमात्मा वनती है। आत्मा आवृत चेतना है और परमात्मा अनावृत। आत्मा वीज है और परमात्मा वरगद। वीज को देखकर यह कल्पना नही हो सकती कि इसमे एक वरगद का अस्तित्व है। किन्तु यह अनुभवसिद्ध वात है कि वीज का वरगद वनता है। इसी प्रकार आत्मा के परमात्मा वनने की वात भी आगम-सिद्ध है।

इस ससार मे जितने आत्मवादी दर्शन है, उनमे आत्मा या परमात्मा के अस्तित्व को लेकर कोई विप्रतिपत्ति नही है। यदि कोई विप्रतिपत्ति है तो वह है उनके स्वरूप के विपय मे। इस सन्दर्भ मे वाद-विवाद करने से कोई नया निप्कर्प निकल सके, सभव नही है। क्योकि जो तत्व अहेतुगम्य है, उसे तर्क के माध्यम से समझा भी कैसे जा सकता है? इसलिए किसी भी प्रकार के विवाद मे उलझे विना साधक के सामने यही लक्ष्य रहना चाहिए कि आत्मा परमात्मा कैसे वन सकती है?

आत्मा को परमात्मा वनाने का सीधा-सा उपक्रम है अपने मन को आत्मा मे स्थापित करना। मन आत्मा का अनुचर है। यह जिस दिन सही अर्थ मे आत्मा का अनुचर वन जाता है, आत्मा विकास की सीढियो पर आरोहण करना शुरू कर देती है। आत्म-विकास की चौदह सीढिया है। ससार के अधिकतम प्राणी पहली से लेकर पाचवी-छठी सीढी तक आरोहण

करते हैं। पाचवी-छठी सोपान तक जो पहुच जाते है, वे समय आने पर पूरा विकास कर सकते है। किन्तु जिन प्राणियो के कदम पहली सीढी पर ही अटके हुए है, वे अपने स्वरूप को नही समझ सकते। स्वरूप-बोध के अभाव मे उसे पाने या विकसित करने की भावना ही जन्म नही ले पाती।

जिन व्यक्तियो को अपने अस्तित्व का बोध हो जाता है, अपने अस्तित्व मे परमात्मा के स्वरूप की अनुभूति हो जाती है, वह व्यक्ति परमात्मा बन सकता है। इसके लिए उसे आत्मा या परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करके अपने मन को तद्रूप परिणत करना होता है। तद्रूप परिणति का दूसरा नाम है आत्म-रमण। इस क्रम से आत्मा निश्चित रूप से परमात्मा बन जाती है।

कोई व्यक्ति यह सोचे कि मुझे कोई दूसरी शक्ति परमात्मा बना दे, यह असभव बात है। क्योकि परमात्मपद दिया नही जा सकता, पाया जा सकता है। इसके लिए आत्मा और परमात्मा के एकत्व तथा आत्मा और शरीर के भेद का बोध ही नही, अनुभव होना आवश्यक है। जिन साधकों को यह अनुभव हुआ है, उन्होंने ही आत्मा को पाया है।

समाधि का सूत्र

आज का मनुष्य समाधि की खोज मे है। मनुष्य ही नही समग्र प्राणी जगत समाधि का अभीप्सु है। समाधि के लिए वह सुख और शाति के साधन जुटाता है किन्तु जीता है खडित स्तरो पर। खण्ड-खण्ड हुई चेतना व्यक्ति को भीतर और वाहर दोनो ओर से तोड देती है। विभक्त और टूटे हुए मन से शाति या समाधि की उपलब्धि कभी नही हो सकती। इसके लिए आवश्यकता है व्याधि, आधि और उपाधि से मुक्त होने की।

व्याधि का सम्वन्ध शरीर से है। शरीर मे जितने प्रकार की वीमारिया जन्म लेती है वे सव व्याधि कहलाती हैं। इनका सम्वन्ध शरीर के साथ-साथ मन और कर्म से भी है। मानसिक अस्वास्थ्य शारीरिक अस्वास्थ्य का हेतु वनता है और पूर्व सचित कर्मो की प्रेरणा भी इसमे निमित्त वनती है। 'आधिस्तु मानसी-व्यथा' मन की पीडा का नाम आधि है। यह अनुवधित है सयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मृत्यु आदि द्वन्द्वो से। तनाव भी मानसिक व्यथा ही है। इससे मनुष्य को अधिक परेशानी का अनुभव होता है। तीसरा तत्त्व है उपाधि। इसका उद्‌भव आवेगो से होता है। आवेश ईर्ष्या, लालसा, कामना आदि ऐसे आवेग है जो दिन-रात सत्रास पैदा करते है। इस व्याधि, आधि और उपाधि से मुक्त हुए विना समाधि की प्राप्ति नही हो सकती।

व्याधि, आधि, उपाधि से मुक्ति पाने का सीधा-सा उपाय है 'प्रेक्षा-ध्यान'। दूसरे उपाय भी हो सकते है। एकान्तत प्रेक्षा के प्रति मेरा कोई आग्रह नही है। पर मैंने जहां तक इसका प्रयोग किया है, इसकी गुणवत्ता को नकारा नही जा सकता। केवल प्रेक्षा के प्रयोग से आधि, व्याधियां

समाप्त हो ही जाती है, यह भी ऐकान्तिक तथ्य है। क्योकि ग्लैड्स (ग्रन्थियो) का समुचित स्राव भी समाधि का एक कारण है। जिस व्यक्ति का ग्रन्थि स्राव समीचीन प्रकार से नही होता है, उस व्यक्ति की आधि, व्याधिया को केवल उपदेश के द्वारा समाप्त नही किया जा सकता।

इस सन्दर्भ मे कर्म का प्रश्न मानस को झकझोर सकता है किन्तु इसका समाधान कठिन नही है। मेरे अभिमत से कर्म को अपना प्रभाव दिखाने के लिए साधन की अपेक्षा रहती है। निमित्त समाप्त हो जाए तो कर्म मे फल देने की शक्ति स्वय समाप्त हो जाती है। क्या मनुष्य कर्म को उदीर्ण करने वाली परिस्थितियो को मिटा नही सकता ? मेरा विश्वास इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर है। यदि मनुष्य पुरुपार्थ करे और अपनी ग्रन्थियो को ठीक रखे तो वधे हुए कर्म भी विफल हो जाते है। कर्म की सफलता या विफलता कर्म पर ही निर्भर नही करती। इस दृष्टि से व्यक्ति व्याधि, आधि और उपाधि से मुक्त होकर ही समाधि का अनुभव कर सकता है। अनुभव के स्तर जव उन्नत हो जाते है निर्देश और उपदेश की वात अपने आप गौण हो जाती है। मेरे इस कथन मे किसी उपदेश, अनुश्रुति या परम्परा का प्रभाव नही है। क्योकि यह मेरा अपना अनुभव है।

महरौली (दिल्ली)
१८ मार्च, १९७९

आत्म-साक्षात्कार की दिशा

आत्म-साक्षात्कार या परमात्म-मिलन साधक के अन्तर्मन स उद्भूत आकाक्षा है। कोई भी साधक जब तक वह सिद्ध नही बन जाता, इस अभिकाक्षा को सजोकर चलता है। प्रश्न यह है कि यह आकाक्षा केवल काल्पनिक उडान मात्र है या इसके पीछे कोई वास्तविकता भी है ? जो साधक आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करते है, उनके लिए यह ठोस यथार्थ है। आत्मा है तो उसका साक्षात्कार क्यो नही होगा ? अनात्मवादी व्यक्तियो के लिए इस आकांक्षा का मूल्य एक कल्पना से अधिक नही हो सकता। क्योकि जिस तत्त्व का अस्तित्व ही न हो, उसका साक्षात्कार कैसे हो सकता है ?

आत्मवादी प्रतीति आत्मा की त्रैकालिक सत्ता स्वीकार करती हैं। वह पहले थी, वर्तमान मे है और भविष्य मे रहेगी। जो है, उसका साक्षात्कार न हो, यह अहेतुक बात है। आत्मा है और उसका साक्षात्कार होता है, इसमे सन्देह को अवकाश ही नही है।

आत्म-साक्षात्कार के दो रूप है—सर्व-साक्षात्कार और देश-साक्षात्कार। व्यवहार की भूमिका पर जो साक्षात्कार होता है, वह देश-साक्षात्कार है। इसके ज्ञापक तत्व है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के धर्म हैं। धर्म धर्मी के बिना टिक नही सकते। इसलिए इनका साक्षात्कार ही आत्म-साक्षात्कार है। निश्चय की दृष्टि मे आत्मा का अर्थ है शुद्ध चैतन्य। समस्त विजातीय तत्त्वो से आत्मा को मुक्त कर लेना ही आत्मा को साक्षात् देखना है।

परमात्म-मिलन या परमात्म-साक्षात्कार भी एक तथ्य है। मेरे अभिमत मे आत्मा ही परमात्मा है। आत्म-मिलन का दुर्लभ क्षण ही

परमात्म-मिलन का क्षण है। किन्तु कुछ लोगो की धारणा मे परमात्मा का अस्तित्व आत्मा से भिन्न है। वे मानते है कि अमुक व्यक्ति को भगवान् के दर्शन होते है। भगवान् के स्वरूप की कल्पना भी उनकी अपनी निजी होती है, कुछ व्यक्ति विष्णु को साक्षात् देखते है । कुछ को महावीर दिखाई देते है और कुछ व्यक्ति बुद्ध को देखते है।

यह सब क्या है? क्या महावीर धरती पर उतरकर आते हैं? कैसे आते होगे वे यहा? कोई सभावना ही तो नही बची है उनके लौट आने की। महावीर हो या बुद्ध, शकर हो या विष्णु परमात्मा बनने के बाद तो इनका लोकजीवन के मध्य अवतरण हो नही सकता । तो फिर जो कुछ दिखाई देता है, वह क्या है? वह है मनुष्य के मन की कल्पना।

जिस मनुष्य का मन जिसमे लीन होता है, एकाग्र हो जाता है, वही आकार उसके सामने उभर जाता है । मन की एकाग्रता भावक्रिया से सधती है। इसीलिए भावक्रिया और भावोपासना पर बल दिया जाता है। भावक्रिया न हो तो व्यक्ति सोचता कुछ है और करता कुछ है। सोचने और करने मे जब तक एकात्मकता नही होती, न आत्म-साक्षात्कार हो सकता है और न ही कोई दूसरा काम सिद्ध हो सकता है।

प्रसिद्ध उपन्यासकार बर्नाडशा कार से यात्रा कर रहे थे। ड्राइवर कार चला रहा था और वे उसी सीट पर बैठे थे। कुछ दूर चलने के बाद उन्होने ड्राइवर से कहा—तुम इधर आओ, कार ड्राइव मैं करूगा। ड्राइवर उठ गया। बर्नाडशा ने स्टेयरिंग अपने हाथ मे लिया और कार चलाना शुरू कर दिया। इधर कार चल रही थी, उधर उनका दिमाग चल रहा था। वे मन-ही-मन एक ड्रामे का प्रारूप सोचने लगे। सोचते-सोचते सोचने मे इतने लीन हो गए कि कार ड्राइव करना भूल गए। कार की गति का सन्तुलन बिगडता देख ड्राइवर बोला—आप क्या कर रहे हैं? ड्राइवर की बात सुन बर्नाडशा को होश आया। वे सभलकर बोले—मै एक नाटक की थीम सोचने लगा था।

कार दुर्घटना हो जाती तो वह थीम किसके काम आती? भावक्रिया के बिना कोई भी प्रवृत्ति यथेष्ट परिणाम नही ला सकती। आत्म-साक्षात्कार के लिए भी भावक्रिया की प्रकृष्ट साधना अपेक्षित है। जिन साधको ने इसका अभ्यास किया है, उन्होने निश्चित रूप से आत्मा को पाया है।

अल्फा तरंगों का प्रभाव

ससार मे दो प्रकार के व्यक्ति होते है—छद्मस्थ और केवली। छद्मस्थ के सात लक्षणो मे एक लक्षण है—'नो जहावाई तहाकारी।' छद्मस्थ व्यक्ति की वाणी और क्रिया मे कोई सगति नही होती। वह जैसे बोलता है वैसे कर नही सकता। इस तथ्य को सामने रखकर कोई भी व्यक्ति कथन और आचरण मे सामञ्जस्य की कल्पना नही कर सकेगा। क्योकि छद्मस्थ का जो लक्षण सर्वज्ञो ने बताया है उसे झुठलाया कैसे जा सकता है? यह तर्क ऐसा तर्क है जिसे बुद्धि के स्तर पर काटना कठिन है। फिर भी व्यक्ति ऐसे तर्क उपस्थित करता है, क्यो कि उसकी स्वार्थ-चेतना पूर्ण रूप से जागृत है।

ईसु क्राइस्ट का एक भक्त शराब बहुत पीता था। उसके फेमिली डाक्टर ने उसको मना कर रखा था फिर भी वह अपनी आदत से लाचार था। एक दिन वह होटल मे शराब पीने लगा। डाक्टर उसके साथ था। वह बोला—आप अपना भला चाहते है तो शराब छोड दीजिए। यह आपका जानी दुश्मन है। डाक्टर की बात सुन वह व्यक्ति थोडा गभीर होकर बोला—डाक्टर महोदय! आपका कथन बिलकुल सही है। मैं जानता हू कि शराब पीकर मैं अपनी उम्र घटा रहा हू। पर क्या करू? महाप्रभु ईसु ने कहा है—'दुश्मन के साथ दोस्ती रखो।' शराब निश्चित रूप से मेरा शत्रु है। पर इसके साथ दोस्ताना व्यवहार न करू तो प्रभु के वचनो का अतिक्रमण होता है। अब आप ही बताए कैसे छोड दू मैं इसे।

छद्मस्थ के लक्षणो के सम्बन्ध मे मेरा अभिमत यह है कि उक्त लक्षण साधारण लक्षण है। छद्मस्थ यदि इन लक्षणो मे मुक्त नही होता है तो

वह वीतराग हो ही नही सकता। क्योंकि छद्मस्थता बारहवें गुणस्थान तक रहती है। इस अर्थ मे वीतराग भी छद्मस्थ होते है। क्या उनके जीवन मे वचन और आचरणगत द्वैध हो सकता है? यदि नही तो फिर मानना होगा कि ऐसे तथ्यों की ओट लेकर अपनी दुर्वलता को पोषण देना है।

मैं अपनी अनुभूति की गहराई मे जाकर सोचता हू, प्रस्तुत तथ्य की अनुप्रेक्षा करता हू तो ऐसा प्रतीत होता है, श्रुति मधुर सिद्धान्त की जीवन-व्यवहार मे क्रियान्विति न होने का एक वडा कारण है उस सिद्धान्त के अनुसार चलने मे सरसता की अनुभूति का अभाव। जिस वृत्ति या प्रवृत्ति से जीवन मे सरसता आती है, उसे किए विना रहना कठिन हो जाता है। एक व्यक्ति वर्षों से किसी काम मे सलग्न है और वह कभी ऊव या वोरियत महसूस नही करता है। किन्तु यह स्थिति तभी तक वनी रह सकती है जव तक कोई दूसरा सरस काम सामने नही आता है। प्रतिपक्ष भावना का प्रयोग ऐसी समस्या का ही समाधान है। मैने जब-जब यह प्रयोग किया, श्रुत और प्रतिपादित सिद्धान्त स्वत. स्वीकृत हो गए।

कथन और आचरण के वीच की दूरी को कम करने के दो उपाय है—नैसर्गिक तथा रासायनिक। आत्म-प्रेरणा, सहज विराग या किसी निमित्त से वृत्तियो का रूपान्तरण होता है तथा रासायनिक परिवर्तन से भी होता है। यह वात विज्ञान-सम्मत भी है। विज्ञान के अनुसार मानव-मस्तिष्क मे दो प्रकार की किरणें होती है—अल्फा और वेटा। जिसके मस्तिष्क मे 'अल्फा' तरगो की वहुलता होती है वह हर पल आनन्द मे भरा रहता है। उसके समीप आने वाला व्यक्ति भी उस आनन्द के वातावरण मे अप्रभावित नही रहता। अच्छे वायब्रेशन का निर्माण भी 'अल्फा' की अधिकता से होता है। इसके विपरीत जहा 'वेटा' किरणें अधिक है, वहा व्यक्ति सत्रस्त और विषण्ण रहता है। प्रत्यक्षत. कोई कारण दिखाई न देने पर भी उसके विषाद की मात्रा कम नही होती। यह अल्फा और वेटा की प्रक्रिया एक रासायनिक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को भीतर और वाहर, दोनो ओर से अपने प्रभाव मे रखती है।

कथन और आचरण के एकत्व का सकल्प भी अल्फा तरगो को विकीर्ण करने वाला संकल्प है। अणुव्रत की सारी प्रक्रिया इस सन्दर्भ मे वहुत ही

मूल्यवान है। इस दृष्टि से सिद्धात और सकल्प मे सरसता का समावेश हो जाए तो बुराइयो से मुक्त होने का मार्ग स्वय प्रशस्त हो जाता है। प्रेक्षा ध्यान के माध्यम से इस मार्ग को प्रशस्त बनाना मेरे जीवन की एक अहम् प्यास है।

महरौली (दिल्ली)
१६ मार्च, १६७६

अकर्म का मूल्य

कर्म और अकर्म दो प्रतिपक्षी शब्द है। कर्म सक्रियता का प्रतीक है और अकर्म निष्क्रियता का। यह एक बहु-प्रचलित धारणा है कि मनुष्य को सक्रिय रहना चाहिए। जो व्यक्ति कर्मशील नही होता वह आलस्य और प्रमाद को प्रश्रय देता है। आलसी व्यक्ति अपनी शक्ति का नियोजन किसी शुभ कर्म मे नही करता, इसलिए वह अकार्य को जन्म देता है। 'खाली दिमाग शैतान का घर' उक्त जनश्रुति भी इस तथ्य को पुष्ट करती है। किन्तु मैं बहुत बार सोचता हू कि कर्म और अकर्म के सम्बन्ध मे लोगो की जो धारणाए है, क्या वे उनके सही अर्थ-बोध के बाद जनमी हुई है या मात्र परम्परा से प्राप्त है?

सच तो यह है कि सापेक्ष चिन्तन के बिना कोई भी निर्णय परिपूर्ण नही होता। मेरी समझ से कर्म करना जितना सरल है, अकर्म बने रहना उतना ही कठिन है। कठिन ही नही सक्रियता से सर्वथा मुक्त होना असभव है। क्योकि मानसिक, वाचिक व कायिक कर्म का निरोध तो हो सकता है, पर आध्यात्मिक सक्रियता शैलेशी या सिद्धावस्था मे भी समाप्त नही होती। वहा कोई दृश्य क्रिया भले ही न हो पर चेतना की स्वाभाविक क्रियाशीलता अनवरत चालू रहती है।

कर्म और अकर्म को उनके सूक्ष्म स्तरो पर समझे बिना जानकारी का धरातल ठोस नही हो सकता। इस दृष्टि से कर्म से भी अधिक उस बात पर विचार करना है, जिससे कर्म की प्रेरणा मिलती है। मनुष्य का हाथ हिलता है। वह किसी को चाटा मारता है तो किसी के सामने प्रणाम करने की मुद्रा मे क्रिया करता है। क्या यह क्रिया हाथ की है? शरीर स्थित

सेंसरी नर्व और मोटार नर्व की प्रेरणा न हो तो हाथ कोई क्रिया कर ही नही सकता। इसका अर्थ यह होता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया भीतरी प्रेरणा का परिणाम है।

गीता के अनुसार कोई भी देहधारी सम्पूर्ण रूप से कर्म-मुक्त नही हो सकता। कर्म की सामान्य परिभापा के अनुसार यह तथ्य ठीक है। पर मैं ऐसा मानता हू कि वृत्ति का संशोधन हो जाने से कर्म भी अकर्म वन जाता है। सशोधित वृत्ति वाला व्यक्ति कर्म करता हुआ भी वन्धन से मुक्त रहता है, इसलिए वह कर्म अकर्म ही है। कोई व्यक्ति एक आकृति को देखता है। यह सहज क्रिया है। इसके साथ वृत्ति-सज्ञा का योग नही होता है तो देखने की क्रिया वस यही समाप्त हो जाती है। किन्तु इसके साथ वृत्ति का योग होने मे आवृत्ति होती है। पुन-पुन उस आकृति या दृश्य को देखने का मनोभाव जागृत होता है। वृत्ति-सशोधन से मेरा अभिप्राय है प्रवृत्ति का अपुनरावर्तन। यहा प्रकृष्ट वृत्ति प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति मे सक्रियता होने पर भी आसक्ति नही है, अपनत्व नही है, इसलिए एक अपेक्षा से यह अकर्म है।

कर्म और अकर्म के सन्दर्भ मे एक विचार यह भी है कि कर्म करो किन्तु उसके साथ कर्तृभाव मत रखो। जो कुछ करते हो उसे अदृष्ट कर्ता के प्रति समर्पित कर दो। इस सिद्धान्त के आधार पर व्यक्ति कोई भी गलत कर्म करता है, उसे अपने पर नही लेता। मिलावट, धोखाधडी, शोपण जैसी अवाछनीय प्रवृत्ति करने के वाद वह कहता है—मैं क्या करू? ईश्वर की जैसी मर्जी। अच्छे-वुरे सव काम कराने वाला भगवान् है अत मैं इनका फल भी उन्ही को समर्पित करता हू। यह अकर्ताभाव अकर्म की साधना नही, सिद्धान्त का दुरुपयोग है।

वास्तविकता है वृत्ति सशोधन का सिद्धान्त। इसके लिए सहजभाव से जो कर्म छोडे जा सकते है, उन्हे छोडना भी जरूरी है। क्योकि इस दृष्टि से अकर्म की ओर वढना आलस्य या प्रमाद न होकर शक्ति का जागरण है। एक व्यक्ति हृदय रोग या उच्च रक्तचाप से पीडित है। डाक्टर उसे पूर्ण विश्राम का परामर्श देता है। क्या यह पूर्ण विश्राम व्यक्ति को निष्क्रिय

बनाता है। ऊपर से दिखाई देने वाली यह निष्क्रियता भीतरी सक्रियता के लिए ही होती है।

ध्यान-साधना के लिए कायोत्सर्ग का अपना मूल्य है। यह अकर्म की साधना का प्रवेश द्वार है। इससे शरीर और आत्मा दोनों को पोषण मिलता है। इस तथ्य को समझने के बाद मैं कर्म और अकर्म दोनों को सापेक्ष मूल्य देता हूं और अपने जीवन में कर्म को वृत्ति-संशोधन के साथ जोड़कर अकर्म के रूप में परिणत करता हूं।

महरौली (दिल्ली)
२० मार्च, १९७९

क्या आदतें बदली जा सकती हैं ?

इस ससार मे असभव जैसा कोई काम नही है। काम और असभव इन दोनों शब्दो मे कोई मेल नही हो सकता। सही साधन सामग्री के योग से हर काम हो जाता है और उचित सामग्री के अभाव मे साधारण काम भी अधूरा रह जाता है। आदत वदलना भी एक काम है। पर आदत वदलने की वात से पहले निर्धारण यह करना है कि आदत वदल सकती है। इस निश्चय को दर्शन कहा जाता है। 'दर्शन निश्चय पुसि' स्वभाव वदलेगा या नही ? ऐसे सोचने वाला कभी वदल नही सकता। इसलिए स्वभाव-परिवर्तन के सिद्धात मे गहरी श्रद्धा होने के वाद अनुकूल साधनो की खोज आवश्यक है। जव तक वीमार व्यक्ति को अपनी वीमारी का ज्ञान ही नही होता, वह उसका उपचार कैसे कर सकता है ? उपचार की वात तभी स्वीकृत होती है जव रोग का सही निदान हो जाए।

स्वभाव-परिवर्तन के लिए जो प्रयोग निर्दिष्ट है, उन्हे काम मे लेने मे पहले यह निश्चय करना चाहिए कि मेरी कौन-सी आदत गलत है ? किस आदत को वदलने के लिए मुझे प्राथमिकता देनी है ? इस निश्चय का माध्यम है प्रेक्षा। 'सपिक्खए अप्पगमप्पएण' आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। आत्मदर्शन की इस प्रक्रिया मे अच्छाई और बुराई दोनो का दर्शन होगा। सामान्य प्रेक्षा के वाद वहुत गहरे मे पहुचकर देखने का क्रम है। गहराई मे पहुचने से कुछ आदते अपने-आप वदल जाती हैं। उनके परिवर्तन के लिए अतिरिक्त प्रयास की अपेक्षा ही नही रहती। किन्तु जो सस्कार वहुत गहरे हो जाते है, उन्हे कुरेदने के लिए एक विशेष प्रक्रिया से गुजरना जरूरी है।

कभी नहीं जाने वाली जवानी

जीवन मे तारुण्य की अनुभूति का भी अपना एक स्वाद है और ऐसा स्वाद है जिसके आकर्षण से छुटकारा ही नही मिलता। वचपन सुखद होता है, पर वह सवको प्राप्त है। इसलिए उसके प्रति आकर्षण अनाकर्षण का प्रश्न नही उठता। बुढापा व्यक्ति की विवशता होती है। उसे कोई चाहता नही, फिर भी उसे भोगना पडता है तो व्यक्ति आहत मन से उसे भोगता है। तीनो अवस्थाओ मे यौवन ही ऐसा है, जिसके जीने मे रुचि होती है और उसे वनाए रखने का प्रयत्न होता है। कहा जाता है कि आयुर्वेद मे ऐसी औपधियो, रसायनो और कल्पप्रयोगो की चर्चा है, जो वार्धक्य को रोककर व्यक्ति को चिर युवा रख सकते है। पता नही इन प्रयोगो का प्रभाव कितना स्थायी होता है? पर प्रेक्षाध्यान साधना एक ऐसा प्रयोग है जो व्यक्ति को वुढापे की अशुभ छाया से वचाकर सदा-सदा के लिए तारुण्य का वरदान दे सकती है।

प्रश्न है यौवन क्या है? वुढापा क्या है? इस प्रश्न को शरीर और मन के स्तरों पर उत्तरित करना है। शारीरिक दृष्टि से वृद्धत्व का लक्षण है—मस्तिष्क की कोशिकाओ का कड़ापन, रीढ की हड्डी मे झुकाव और कडापन। यौवन का चिह्न है—लचीली कोशिकाए, सीधी और लचकदार पृष्ठरज्जु। मानसिक स्तर पर वुढापे की परिभापा है—चिन्ता, तनाव, आवेश, चिडचिडापन, अनुत्साह और निराशा। इसके विपरीत युवक उत्साही होता है, अप्रमादी होता है, आने वाली हर परिस्थिति के प्रति जागरूक रहता है, निराशा का जुआ उतार फेंकने वाला होता है और होता है अपनी सुपुप्त क्षमताओ को जागृत करने वाला।

चिन्तन की भूमिका पर खड़े होकर वृद्धत्व और यौवन का निरूपण

किया जाए तो कहा जा सकता है कि अतीत मे जीना बुढापा है और वर्तमान मे जीना तारुण्य है। आदमी वृद्ध उस दिन होता है, जब वह प्रगति के सब स्रोतो को रोक देता है। उसका यौवन तब तक स्थिर रहता है जब तक वह अपनी प्रगति के लिए नई कल्पनाओ और सभावनाओ से भरा रहता है। बुढापा एक वियावान जगल है, जिसमे पाव रखने से पहले ही व्यक्ति घवरा जाता है। यौवन वह फुलवारी है, जिसकी डाल-डाल पर उल्लास की कोयल कूक रही होती है। बुढापा पतझर है और यौवन है वहारो का सतरगा ससार। पर इस यौवन की सुरक्षा किसी बाहरी रसायन से नही, भीतरी रसायन से करनी है। इस यौवन का अस्तित्व देह की सीमाओ मे नही आत्मा के जागरण मे है।

अवस्था के साथ जो वृद्धत्व आता है वह रुकने वाला नही है। वैसे वृद्ध होना वुरा भी नही है। ज्ञान-वृद्ध, अनुभव-वृद्ध, सयम-वृद्ध आदि शब्द बुढापे को गरिमा देने वाले है। इसी प्रकार वयोवृद्ध शब्द भी महत्व-पूर्ण है। इन सव वृद्धताओ के वीच यौवन के जो फूल खिलते है वे जीवन्त होते है, आकर्पक होते हैं, सुखद होते हैं और स्थायी होते है। ऐसे फूल खिलाने के लिए दीर्घश्वासप्रेक्षा और चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षा के सतत अभ्यास की अपेक्षा है। श्वास लेना एक ऐसी प्रक्रिया है जो वचपन से लेकर बुढापे तक बरावर चालू रहती है। जन्म के प्रथम क्षण से शुरू होकर मृत्यु के प्रथम क्षण तक जो क्रिया होती है, उसके प्रति थोडी-सी जागरूकता रखी जाए तो वह रक्त-सचार की व्यवस्था को ठीक रख सकती है। पूरे शरीर मे शुद्ध रक्त का सचार होने से कोशिकाओ और स्नायुयो की अपनी क्रिया मे कोई अवरोध नही आता। फलत अवस्था से पहले ही प्रभुत्व स्थापित करने वाला बुढापा भी शरीर पर अपना प्रभाव नही दिखा सकता। वृद्धत्व आने से पहले ही उसकी चिन्ता मे जर्जरित होने वाले व्यक्ति के लिए प्रेक्षाध्यान एक अमोघ साधन है जो शरीर, मन और आत्मा सबमे तारुण्य को स्थायित्व देकर एक स्वस्थ जीवन की सरचना कर सकता है।

महरौली (दिल्ली)
२४ मार्च, १६७६

अन्तर्दृष्टि का उद्घाटन

मनुष्य की बौद्धिक चेतना और ज्ञान चेतना मे किसी समय द्वन्द्व छिड गया। द्वन्द्व इस बात को लेकर हुआ कि उन दोनो मे श्रेष्ठ कौन है? बुद्धि और ज्ञान ने अपने बीच उपस्थित इस द्वन्द्व की उपेक्षा कर दी, पर एक पिशुन बीच मे आ गया। वह था शुष्क तर्कवाद। उसने सोचा कि ज्ञान और बुद्धि का झगड़ा यही समाप्त हो गया तो मुझे कौन पूछेगा? वह दोनो को अपने अधीन रखकर अपना प्रभाव दिखाना चाहता था, किन्तु ज्ञान उसके चगुल मे नही फसा। तर्क ने अपने अस्तित्व का लोप होता देख बुद्धि को मजबूती से पकड लिया।

आज के आध्यात्मिक लोग बुद्धि को कोसते है और उसे केवल शुष्क तर्कवाद के रूप मे प्रस्तुति देते है। मेरा अभिमत कुछ भिन्न है। मैं मानता हू कि बुद्धि भी अपने क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण है। यदि बुद्धि नही होती है तो तत्त्व-बोध की क्षमता कहा से आएगी? सुनने-समझने वाले सब लोग मूढ ही होगे तो ज्ञानी का ज्ञान कहा खुलेगा?

एक गीतकार ने किसी देहात मे शास्त्रीय सगीत का कार्यक्रम रखा। सैकडो की सख्या मे देहाती लोग एकत्रित हुए। गीतकार आख मूदकर राग आलापने लगा। आलाप-आलाप मे उसने पाच-सात मिनट लगा दिए। श्रोताओ ने उसको पागल समझा। वे एक-एक कर उठ गए। गीतकार ने आख खोली उस समय वहा एक व्यक्ति बैठा था। गीतकार बोला—भैया! सब लोग चले गए। लगता है इस गाव मे तो तुम ही सगीत मे रस लेते हो। वह व्यक्ति झुझलाता हुआ कहने लगा—रस-बस मैं नहीं

जानता, मुझे तो दरी ले जानी है इसलिए मैं वैठा हू। तुम अव गीत वन्द करो और मुझे छुट्‌टी दो।

उक्त प्रसग से ज्ञात होता है कि वुद्धि भी जीवन के लिए उपयोगी है। शास्त्रों मे चार प्रकार की वुद्धि वताई गई है—औत्पत्तिकी, वैनयिकी, पारिणामिकी और कार्मिकी। वुद्धि ज्ञान की पहली भूमिका है। ज्ञान भीतर से आता है और वुद्धि वाहर से। इसका आधार है—शास्त्र, पुस्तके, तर्क-वितर्क आदि। 'वादे-वादे जायते तत्त्व वोध' वाद-विवाद से तत्त्व ज्ञान की वात भी वुद्धि के पक्ष मे जाती है।

वुद्धि अच्छी चीज है, पर कोरी वौद्धिकता ही सब-कुछ नही है। इसमे व्यक्ति के जीवन मे नीरसता और शुष्कता आती है। ज्ञान अन्तर्दृष्टि से अनुवन्धित है, इसलिए यह अपने साथ सरसता लाता है। ज्ञानी व्यक्तियो के लिए पुस्तकीय अध्ययन की विशेप अपेक्षा नही रहती। भगवान् महावीर ने कव पढी थी पुस्तकें ? आचार्य भिक्षु, सन्त तुलसी, सन्त कबीर आदि जितने ज्ञानवान पुरुप हुए हैं, उनमे कोई भी पडित नही थे। अन्तर्दर्शन उनकी ज्ञानमयी चेतना की स्फुरणा करता था। इसके आधार पर ही उन्होने गभीर तत्त्वो का विश्लेपण किया। वे यदि पुस्तको के आधार पर प्रतिवोध देते तो ससार को कोई नया दृष्टिकोण नही दे सकते थे।

एक वात और ज्ञातव्य है। विद्वान् वहुत पढे-लिखे होते है, पर वे आज तक भी किसी ज्ञानी को पराजित नही कर सके। इन्द्रभूति महापडित थे। उनका पाडित्य विश्रुत था। पर वे भगवान् महावीर की ज्ञान चेतना का अनुभव करते ही पराभूत हो गए। इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा पडा है। ज्ञान और वुद्धि की परस्पर कोई तुलना नही है।

वुद्धि कुड का पानी है और ज्ञान कुए का पानी है। कुड का पानी जितना है उतना ही रहता है। वर्पा होती है तो पानी थोडा बढ जाता है। इसी प्रकार अनुकूल सामग्री और पुरुपार्थ का योग होता है तो वुद्धि वढ जाती है। अन्यथा उसके विकास की कोई सभावना नही रहती। कुए से जितना पानी निकाला जाता है, नीचे से और आता रहता है। वह कभी चुकता नही है। उसमे नए अनुभव जुडते जाते है।

वुद्धि आवश्यक है किन्तु उसके आधार पर कभी आत्म-दर्शन नही हो

पाता। आत्म-दर्शन का पथ है ज्ञान और ज्ञान तव तक उपलब्ध नहीं होता जव तक ध्यान का अभ्यास न हो। जिस व्यक्ति को अन्तर्दृष्टि का उद्घाटन करना है, ज्ञानी वनना है, उसे प्रेक्षाध्यान साधना का आलम्वन स्वीकार करना ही होगा। ऐसा करके ही वह ज्ञान की श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकता है।

महरौली (दिल्ली)
२५ मार्च, १९७९

प्रेक्षा है एक चिकित्सा विधि

चिकित्सा एक वहुत वडा विज्ञान है। इस विज्ञान का लाभ करोडो-अरवों लोग उठा रहे हैं। स्वास्थ्य-लाभ के लिए इस विज्ञान का विशिष्ट महत्त्व है। पर आश्चर्य तो इस वात का है कि चिकित्सा की नई विधियो, नए प्रयोगो और नई औपधियो का आविष्कार होने पर भी विश्व मानव का स्वास्थ्य गिरता जा रहा है। क्यो ? या तो निदान सही नही हो रहा है या फिर उपचार मे ही कही गडवड हो रही है। कुछ लोगो का अभिमत है कि शरीर मे छोटे-वडे इतने रोग हैं कि चिकित्सक उनके उपचार मे उलझ जाता है और मूल रोग पकड मे नही आता। जव तक मूल वीमारी का निदान नही होता है, वह दूसरी वीमारियो को उभारती रहती है।

इस युग के व्यक्ति मानते है कि सवमे वडा रोग है टेंशन, तनाव। मस्तिप्क मे तनाव, मन मे तनाव, मास-पेशियो मे तनाव, स्नायुओ मे तनाव। इस तनाव ही तनाव मे व्यक्ति उलझा रहता है और टेवलेट्स खाता रहता है। इससे तनाव तो कम होता नही, नई वीमारिया और सताने लगती है।

अध्यात्म की भूमिका पर खडे होकर चिन्तन किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि टेंशन भी मूल वीमारी नही है, यह किसी दूसरी वडी वीमारी की सन्तति है। वीमारी का मूल है कपाय। उत्तेजना, अह, वञ्चना, तृष्णा आदि ऐसे मनोभाव हैं जो मन की भीतरी परतो के नीचे रहकर भी अपना काम करते रहते है। इनका सवसे वडा काम है सत्य को नकारना। एक सत्य को झुठलाने के लिए जैसी वृत्तियो का निर्माण होता है, उनसे एक तनाव ही क्या न जाने कितनी वीमारिया हो जाती है।

सत्य का प्रशसक और समर्थक कोई भी हो सकता है, पर उसे स्वीकार करना कठिन हैं। जानबूझ कर सत्य को नकारने वाला व्यक्ति कुठा और सत्रास ही उपलब्ध कर सकता है, इस तथ्य की जानकारी होने पर भी व्यक्ति विचलित हो जाता है। विचलित और विभक्त मन वाला व्यक्ति न सयत रहता है, न स्थिर रहता है और न सत्य को समझता है। सत्य को नही समझने वाला या समझकर भी झुठला देने वाला भय और हिंसा के मनोभावो से आक्रान्त होता रहता है। ऐसी स्थिति मे वह स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और स्वस्थ चिन्तन की कल्पना ही कैंमे कर सकता है?

सामाजिक सन्दर्भ मे व्यक्ति एक इकाई है। वह सच है। पर उसे विस्मृत कर समाज या समूह को ही सब-कुछ मान लेना सचाई नही है। समाज व्यक्ति को एक पुर्जे से अधिक मूल्य नही दे सकता, पर इसका अर्थ यह तो नही है कि समाज के लिए कुछ भी किया जाए, वह वैध है। मेरी दृष्टि से न तो अकेला व्यक्ति सचाई है और न समूह सचाई है। दोनो की सापेक्षता ही सत्य है।

व्यक्ति और समाज तो बडी बात है। आज तो मनुष्य अपने खान-पान मे भी सचाई को झुठला रहा है। दो पदार्थ है हमारे सामने—चापड और मैदा। चापड सचाई है। क्योकि यह स्वास्थ्यप्रद है। किन्तु इसे फेंककर मैदा खाया जाता है। फल के छिलको मे जितना विटामिन्स होता है, उसके भीतर नही होता। फिर भी छिलके उतार दिए जाते है। एक नही अनेक खाद्य पदार्थ ऐसे है, जिनकी सचाई को नकारकर व्यक्ति स्वय ही बीमारियो को निमत्रण देता है।

मनुष्य का शरीर अपने आप मे सुव्यवस्थित है। उसमे गुर्दे, हृदय, आमाशय आदि ऐसे अवयव है जो स्वचालित यत्रो की भाति रक्तशोधन, अन्नपाचन आदि काम करते रहते हैं। किन्तु मनुष्य इस सचाई को झुठला देता है। वह नमक अधिक खाकर हृदय के काम मे अवरोध पैदा करता है। चीनी अधिक खाकर गुर्दो की क्रिया मे बाधा पहुचाता है और मसाले आदि तामसिक पदार्थ खाकर आतो और आमाशय को विकृत कर लेता है।

एक समझदार प्राणी जानबूझ कर अपना अहित क्यो करता है?

इसीलिए ही तो कि उसका चित्त उसके वश मे नही है। चित्त को वश मे करने का उपाय किसी भी चिकित्सक के पास नही है । यह व्यवस्था है धर्म के पास। धार्मिक व्यक्तियो का यह कर्तव्य है कि वे चित्त को एकाग्र और सयत करने की सही प्रक्रिया उपलब्ध करे। ऐसी प्रक्रिया मे एक महत्वपूर्ण भूमिका है प्रेक्षाध्यान की। प्रेक्षा आत्म-चिकित्सा का पथ है। व्यक्ति स्वय की चिकित्सा कर सकता है । पर तभी, जब वह विभाव को छोडकर स्वभाव मे रमण करता है। विभाव बीमारी का निमित्त है और स्वभाव स्वास्थ्य का लक्षण है। निमित्तो और लक्षणो के आधार पर रोग का सही निदान और सही उपचार हो जाए तो अस्वास्थ्य की समस्या जडमूल से निरस्त हो सकती है।

महरौली (दिल्ली)
२६ मार्च, १९७९

क्यों हुई धर्म की खोज

युग की आदि मे मनुष्य भी जगली था। किसी सस्कृति का उस समय पल्लवन नही हुआ था। उस युग की सभ्यता आदिवासी लोगो की सभ्यता थी। उन लोगो के पास न तो पहनने के लिए अच्छे वस्त्र थे और न ही थे व्यवस्थित मकान। प्राकृतिक पदार्थो से वे अपना जीवनयापन करते थे। न कोई समस्या थी और न थी किसी समाधान की आकाक्षा। जव से मनुष्य ने विकास करना शुरू किया, उसकी आवश्यकताए वढ गई। आवश्यकताओ की पूर्ति न होने से समस्या ने जन्म लिया। समस्या सामने आई तव समाधान की वात सोची गई। समाधान के स्तर दो थे—पदार्थ-जगत और मनो-जगत। प्रथम स्तर पर पदार्थो के सुनियोजित उत्पादन और उनकी व्यवस्था को एक आकार मिला। दूसरा स्तर मानसिक था। इस जगत की समस्याए थी अपरिमार्जित वृत्तिया, असन्तुलन और तनाव।

इन समस्याओ को समाहित करने के लिए धर्म की खोज हुई। धर्म का अर्थ है परम्परित मूल्य मानको से परे हटकर मनुष्य को सत्य की दिशा मे अग्रसर करना। जव तक धर्म अपने इस परिवेश मे रहता है, वह रूढ नही हो सकता। पर उद्देश्य की विस्मृति के साथ ही उसमे रूढता आ जाती है। रूढ़ धर्म को व्यक्ति अपने जीवन्त सन्दर्भो से काटकर परलोक के साथ जोड लेता है। वस यहीं से धर्म मे विकृति का प्रवेश होने लगता है। मैं ऐसा सोचता हू कि धर्म का सम्वन्ध हमारी हर सास के साथ होना चाहिए। ऐसा वे ही व्यक्ति कर सकते है जो अपने जीवन की सतह पर दौड़-धूप कर

रहे है। या फिर यह उन लोगो का काम है जा जीवन की गहराइयो मे उतरकर अध्यात्म के प्रति समर्पित हो जाते है।

जीवन की सतह पर जीने वाले व्यक्ति धर्म की गहराई मे नही उतर सकते, किन्तु अध्यात्म के प्रयोक्ता की दृष्टि से वह गहराई छिपी नही रह सकती। जो व्यक्ति उतनी गहराई मे उतरे, उन्हे धर्म की विकृतियो का वोध हुआ। जो धर्म मन को समाधान देने वाला था, वह स्वय एक समस्या वनकर उभर गया। इस दृष्टि से उसमे सशोधन व परिवर्तन की अपेक्षा अनुभव हुई। अणुव्रत उसी आवश्यकता का आविष्कार है। यदि धर्म एक समस्या बनकर सामने नही आता तो उसे अणुव्रत के रूप मे प्रस्तुति देने का कोई अर्थ ही नही था।

अणुव्रत धर्म के साथ विवेक की अपरिहार्यता पर वल देता है। आगम की भाषा मे विवेक ही धर्म है। एक ही परिस्थिति विवेक के आधार पर दु खद और सुखद दोनो रूप मे परिणत हो सकती है। पति ने अपनी दो पत्नियो को ईंधन का उपयोग किए विना भोजन वनाने का निर्देश दिया। ईंधन के वदले मे उन्हे ईख का उपयोग करना था। एक पत्नी ने ईख चूल्हे मे रखे और आग जलानी चाही। गन्नो मे रस था, आर्द्रता थी। वे जले नही। पूरे घर मे धुआ भर गया।

दूसरी पत्नी ने वच्चो को वुलाकर ईख चूसने के लिए कह दिया। वच्चे दिन-भर गन्ने चूसते रहे। रस निकल गया। छिलके रह गए। उन्हे जलाकर आसानी से भोजन वना लिया गया। यह घटना विवेक की कसौटी को एक विशिष्ट मूल्य देती है। पदार्थो के उपयोग मे विवेक से इतना अन्तर आ जाता है तव धर्म के क्षेत्र मे इसकी उपयोगिता निर्विवाद प्रमाणित हो जाती है।

धर्म को विवेक से अनुवधित रखने के लिए मै धर्म-क्रान्ति की वात करता हू। धर्म-क्रान्ति से मेरा अभिप्राय यही है कि धर्म परलोक के लिए नही वर्तमान की पवित्रता के लिए हो। वर्तमान जीवन की समस्याओ को निरस्त करने के लिए हो। वर्तमान युग की समस्याओ मे चरित्र पक्ष को सम्हाल रहा है अणुव्रत और मनो-जगत की देख-रेख कर रहा है प्रेक्षा-ध्यान। इस अर्थ मे ये एक-दूसरे के पूरक है। एक अणुव्रती प्रेक्षाध्यान को

साधना करने की उत्सुक रहता है ओर एक प्रेक्षा का प्रयोक्ता सहज रूप से अणुव्रती वन जाता है। मैं अपनी साधना से इन दोनो के तेज को और अधिक निखार देने के लिए प्रयत्नशील हू। मेरा प्रयत्न मेरे भीतरी सकल्प के साथ होता है, इसलिए उसकी सफलता मे मुझे कोई सन्देह नही है।

महरौली (दिल्ली)
२७ मार्च, १९७९

पहला अनुभव

आत्मा की सन्निधि पाने के लिए एकाग्र बनना आवश्यक है। जन-सकुल वातावरण मे एकाग्रता रह सकती है, पर कठिन है। 'जन-सकुलता एकाग्रता मे बाधक है' यह अनुभव जन-सकुलता की परिधि से बाहर निकलने पर होता है। सकुलता केवल लोगो की ही नही होती, मनुष्य के विचार, इन्द्रिया, मन और शरीर भी उसकी एकाग्रता मे बाधक है। इस सकुलता को तोडे बिना एकान्तवास भी समूहवास जैसा बन जाता है।

साधक के लिए दो शब्द आते है—'एगगो वा परिसागओ वा' एकाकी और समूहगत। साधना का विकास एकाकीपन और सामूहिक जीवन दोनो मे सम्भव है। दोनो स्थितियो मे क्या तारतम्य है? इस जानकारी के लिए प्रयोग अपेक्षित है। जीवन-भर सामूहिक साधना ही चलती रहे तो एकाकी साधना का अनुभव ही कैसे हो? मेरे मन मे इस साधना के प्रति गहरी तडप है, फिर भी ऐसा सभव नही हो सका। नही होने का एक कारण है उत्तरदायित्व। किन्तु मैं अनुभव करता हू कि इससे भी बडा कारण रहा है व्यामोह। व्यामोह टूटा और मैने सावधिक एकान्त साधना का निर्णय ले लिया।

साधना-काल मे मैं लोगो की भीड से ही नही अपने मन, विचार और शरीर से भी मुक्त रहने का अभ्यास करूगा। आज पहला दिन है और प्रयोग भी पहला है। तीन बार मे आठ घटा तक मैं बिलकुल अकेला रहा। मौन और जप का प्रयोग किया। खाद्य-सयम किया। अन्य इन्द्रियो का सयम किया। अपूर्व उल्लास का अनुभव हुआ। साधना स्वय उल्लास है। साधना-काल मे अपने इप्ट की प्रत्यक्ष या परोक्ष सन्निधि और स्मृति उस

उल्लास को और अधिक बढा देती है। उल्लास के इन क्षणो मे मैं अपने और अपने धर्म संघ के भविष्य को उल्लासमय बनाने की मगल कामनाओं से भरा हुआ हू।

हिसार (हरियाणा)
२७ सितम्बर, १९७३

कसौटी के क्षण

परिस्थितिया अस्तित्व के लिए खतरा है, यह मैं नही मानता। किन्तु अस्तित्व के साथ परिस्थितिया जुडी हुई रहती है, यह निश्चित है। व्यक्ति किसी शुभ काम मे लगता है तब परिस्थितिया उसका पीछा करती है। वे व्यक्ति को इस प्रकार झकझोर देती है कि एक वार तो वह निराश हो जाता है और उसका साहस टूट जाता है। उनका प्रहार इतना निर्मम होता है कि व्यक्ति स्वय को असहाय-सा अनुभव करता है। परिस्थितिया वाहरी हो सकती हैं और आन्तरिक भी। दोनो प्रकार की परिस्थितिया व्यक्ति को इतना कायर वना देती है कि वह पलायन की वात सोचने लगता है, परिस्थितियो के सामने घुटने टेक देता है और मौत तक का वरण स्वीकार कर लेता है। किन्तु मनुष्य को यह नही भूलना चाहिए कि कसौटी के ये क्षण दृढ मनोवल से गुजारने के होते है। शरीर-वल और शस्त्र-वल से ऊचा कोई वल हो सकता है तो वह मनोवल ही है। जिस प्रकार विना पसीने का पैसा स्थायी नही होता इसी प्रकार वाधाओ का मुकावला किए विना लक्ष्य को स्थायी रूप से प्राप्त नही किया जा सकता।

परिस्थितिया जीवन को विगाडती ही नही वनाती भी हैं, अत हर परिस्थिति का हर कीमत पर मुकावला कर लक्ष्योन्मुख वनना चाहिए। लक्ष्यप्राप्ति के लिए गतिशील रहने से एक दिन सारी परिस्थितिया स्वयं समाप्त हो जाती हैं। जव तक वे अवरोधक वनकर खडी है, पीछे हटने मात्र से समस्या को समाधान नही मिलेगा। समग्र मनोवल और परिपूर्ण

निष्ठा वटोरकर वाधाओ को निरस्त करने वाला व्यक्ति ही मजिल तक पहुच सकता है।

हिसार (हरियाणा)
२८ सितम्बर, १९७३

साधना की प्रथम निष्पत्ति

नियमिता जीवन का एक आदर्श है। नियमित जीवन जीना अनेक उपलब्धियों को पाना है। उचित समय पर जागरण, शयन, भोजन आदि प्रवृत्तियों का क्रम बनाना विकास की दिशा मे गतिशील होना है। गीता मे लिखा है—

युक्ताहार विहारस्य युक्त-चेष्टस्य कर्मसु,
युक्त-स्वप्नाववोधस्य योगो भवति दु खहा।

उचित आहार-विहार, उचित चेष्टाए, उचित शयन और जागरण दु ख दूर करने वाला होता है।

नियमित जीवन जीने मे कठिनाई का अनुभव होता है, क्यो कि मनुष्य का स्वभाव ऐसा नही है। काम करने से पहले उसके मन मे आशका रहती है कि समय पर काम हो पाएगा या नही। मन की आशकाओ से व्यक्ति भारी बन जाता है पर प्रयोग करके परीक्षण नही करता। प्रवचन के सम्बन्ध मे हम भी सोचते थे कि जल्दी प्रवचन करेंगे तो लोग पहुचेंगे या नही ? इस बार प्रयोग किया। ठीक समय पर श्रोता पहुच जाते है। सब काम व्यवस्थित और नियमित हो रहे है।

नियमितता का अभ्यास करने से व्यर्थताओ से बचाव हो जाता है। निरर्थक समय को सार्थक बनाने के लिए नियमित रहना आवश्यक है। इससे व्यक्ति समझने लगता है कि उसके जीवन मे सार्थक कितना है और निरर्थक कितना है ? सार्थकता और निरर्थकता का सही बोध होने के बाद ही व्यक्ति समय का समुचित उपयोग कर सकता है। नियमितता मे

जीवन का क्रम निश्चित वनता है, पर वह रूढता नही है। रूढ जीवन जीने मे आनद की उपलब्धि नही हो सकती। विवेक पूर्ण नियमित जीवन जीने का अभ्यास साधना की पहली निष्पत्ति है।

हिसार (हरियाणा)
२६ सितम्वर, १६७३

अनुकरण की सीमाएं

जैन आगमो मे एक शब्द आता है—'अणुधम्मिया।' अनूधर्मिता का अर्थ है अनुकरण। अनकरण एक शिष्ट परम्परा के रूप मे भी सम्मत है। गीता मे वताया है—

'यद् यदाचरति श्रेष्ठ तद् तदेवेतरो जन'

वडे आदमी जो काम करते है साधारण व्यक्ति उसी का अनुकरण करते हैं। अनुकरण व्यक्ति के लिए वहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है, लेकिन तभी जव वह सलक्ष्य हो। आगे-पीछे की बात सोचे बिना किया गया अनुकरण अहितकर भी हो सकता है। एक व्यक्ति की क्रिया दूसरे के लिए हितकर ही हो, यह आवश्यक नही है। देश, काल, स्वभाव आदि के कारण अनुकरण मे कुछ परिवर्तन की भी अपेक्षा रहती है।

कभी-कभी अनुकरण मे अत्यनुकरण हो जाता है। एक सीमा का अतिक्रमण और वह भी रूढिवश। कुछ लोगो की दृष्टि मे वह विशिष्ट हो सकता है, पर उससे स्वय का लाभ और अलाभ कितना है, यह विचारणीय है। भारतीय परम्परा मे अनुकरण वहुत होता है। किन्तु सही अनुकरण कम होता है। अग्रेजो के सहवास से भारतीयो ने अनपेक्षित वेशभूषा को स्वीकार कर लिया पर समय की नियमितता, वचन की सत्यता आदि विशेपताओ को नही अपनाया।

आज भी अनेक व्यक्ति अन्धानुकरण कर रहे हैं। सामाजिक क्षेत्र में विवाह, भोज आदि परम्पराओ मे सीमा का अतिक्रमण हो रहा है। इससे समाज वहुत वडी हानि उठा रहा है। किन्तु इस अनुकरण के प्रवाह को

रोकने का साहस नही है। नैतिक बल का इतना ह्रास हो रहा है कि व्यक्ति चाहने पर भी उचित काम नही कर पाता। मेरी दृष्टि से अनुकरण के सम्बन्ध मे समन्वय को काम मे लेना जरूरी है। एक सीमा तक अनुकरण अपेक्षित है और एक सीमा मे अनपेक्षित। अपेक्षा और अनपेक्षा का सही बोध ही व्यक्ति को अन्धानुकरण से बचा सकता है।

हिसार (हरियाणा)
३० सितम्बर, १९७३

समता की साधना

आपदा और सपदा दो परिस्थितिया है। सम्पत्ति मे प्रसन्नता और आपत्ति मे विषण्णता स्वाभाविक है। सम्पत्ति मे प्रसन्न होने का अर्थ है उससे भिन्न स्थिति मे उद्विग्न होना। प्रसन्नता और उद्विग्नता शाश्वत वृत्तिया है। किन्तु एक वर्ग ऐसा है जो सदा इनके विपक्ष मे वोलता है। उसके अनुसार प्रसन्नता और विपण्णता नही, जीवन मे समता होनी चाहिए। यह तथ्य साधारण व्यक्ति के लिए समस्या वन रहा है। वह सोचता है कि यह कथन मात्र ही है या वास्तविकता ? आज तक भी इस समस्या का समाधान नही हो पाया है।

मै सोचता हू कि यह तथ्य तथ्य नही होता तो समदर्शी इसकी चर्चा नही करते। इस तथ्य का अस्वीकार वीतरागता का अस्वीकार है। वीतराग सर्वज्ञ होते है। उनके कथन मे विप्रतिपत्ति नही हो सकती। इस तथ्य की असाधारणता का कारण है अभ्यास की कठिनाई। जव तक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो मे सम रहने का अभ्यास नही होता, इस समस्या को समाधान नही मिल सकता।

· ससार के सव प्राणी सपदा से सम्पन्न हो जाए, यह सम्भव नही है। फिर भी हर व्यक्ति इसके लिए प्रयास करता है। जिस प्रकार प्रयत्न करने से सम्पत्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार विपत्ति भी व्यक्ति के अपने प्रयत्नो की देन है। विपत्ति के दुष्परिणाम के वारे मे जानता हुआ भी व्यक्ति उसे टाल नही सकता। कभी-कभी नियतिवश या प्रमादवश भी व्यक्ति विपदाओ से घिर जाता है। अपने चारो ओर विपत्तियो को देखकर वह संत्रस्त हो जाता है। कभी-कभी उसका सत्रास इतना वढ़ जाता है कि वह मृत्यु की

चाह करने लगता है और घोर कायरता का शिकार हो जाता है। सम्पत्ति मे दूसरे व्यक्ति साथ निभाते है, पर विपत्ति मे कोई नही पूछता, इस स्थिति से मानसिक उद्विग्नता बढती है। इससे बचने का उपाय है प्रारम्भ से ही सावधान रहना। सावधानी के बाद भी प्रतिकूल परिस्थिति आ जाए तो उसका दृढता से मुकाबला कर समाधान पाना चाहिए।

हिसार (हरियाणा)
१ अक्टूबर, १९७३

मनुष्य का भोजन

वहुत बार चिन्तन आता है कि मनुष्य का मूल भोजन क्या है ? भारतीय विचारधारा के अनुसार मनुष्य का मूल भोजन अन्न माना जाता है। अन्न के विना मनुष्य का काम नही चल सकता, यह आम धारणा वन रही है। मेरी स्वय की भी यही धारणा थी। बुजुर्ग लोग मानते है कि जहा तक सम्भव हो, अन्न नही छोडना चाहिए। अन्न छूट जाए तो पाचनशक्ति दुर्वल हो जाती है। इसलिए टाईफाइड जैसी बीमारियो मे भी अन्न को सर्वथा वन्द नही करना चाहिए।

इस वार मैंने साधना के लिए एक विशेष अनुष्ठान करने का निर्णय लिया। अनुष्ठान काल मे मुझे भोजन के लिए श्वेत वस्तुए ही काम मे लेनी थी, अत दूध, चावल और केला लेने का चिन्तन किया। चावल कुछ वायुकर लगा, अत छोड दिया। लगभग एक सप्ताह से अन्न नही लिया फिर भी काम अच्छी तरह चलता है। मुझे तो लगता है अन्न-ग्रहण से भी अधिक स्फूर्ति रहती है। प्राचीनकाल मे मनुष्यो के पास अन्न था ही कहा ? फल, फूल आदि से ही वे अपना काम चलाते थे। इससे भी आगे चले तो अब्भक्षी और वायुभक्षी व्यक्ति भी होते थे, जो केवल पानी या पवन के आधार पर ही जीते थे। आज भी ऐसे व्यक्ति मिल सकते है।

अभी हमारे सामने एक ऐसा वैद्य है। वह कुछ औपधियो का प्रयोग कर रहा है, जिनके सेवन से अन्न की रुचि नही रहती। एक-एक महीने तक अन्न छोडने पर भी अन्न के प्रति आकर्पण नही होता। इससे जाना जाता है कि मनुष्य का मूल भोजन अन्न नही है। अन्न के विना हमारा काम चलता ही नही, इस धारणा मे सशोधन अपेक्षित है।

मनुष्य के लिए कौन-सा और कितना भोजन अधिक उपयोगी है? इसका चिन्तन होना चाहिए। सदा अन्न के अधीन रहना ठीक नही है इसलिए कुछ समय के लिए अन्न-त्याग का अभ्यास भी होना चाहिए। अन्न शक्तिवर्धक होता है, किन्तु अनेक विकारो का निमित्त भी वनता है। यही कारण है कि किसी भी वीमारी मे अन्न-त्याग या अन्न-परिवर्तन की वात कही जाती है।

मै अनुभव करता हू कि अन्न की अधिक मात्रा शरीर, मन और जीवन किसी के लिए लाभप्रद नही है। सन्तुलित भोजन, सात्विक और हल्का भोजन शरीर और मन दोनो को सशक्त वनाता है। उससे जीवनी शक्ति पुष्ट होती है। दूध और फल भी अतिमात्रा मे लाभदायक नही होते। साधक के लिए तो आहार-विवेक वहुत आवश्यक है। वैसे आज कई राष्ट्रो के सामने अन्न-समस्या भी भयकर रूप ले रही है, पर कोई समाधान नही हो रहा है। जीवन-यापन के लिए अन्न को ही सर्वोपरि न माना जाए तो कई समस्याओ का हल हो सकता है।

हिसार (हरियाणा)
२ अक्टूबर, १९७३

अहिंसा का चमत्कार

हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व अनादिकाल से चल रहा है। वहुत व्यक्तियों का विश्वास है कि हिंसा के विना कई वातो का समाधान नही होता। अहिंसा एक उत्कृष्ट स्थिति है, पर व्यावहारिक कठिनाइयो को समाहित नही कर सकती। यह वात ठीक हो सकती है किन्तु मै विश्वास के साथ कह सकता हू कि अन्तर्मन का समाधान अहिंसा के विना नही होता। अन्तरात्मा का वास्तविक समाधान जहां होता है, वहां एक चमत्कार-सा अनुभव होता है, किन्तु वह किसी प्रतिक्रिया स्वरूप न हो, यह अपेक्षित है। अहिंसा की शक्ति से असभव लगने वाला काम भी सभव हो सकता है।

अभी मेरे अनुष्ठान-काल मे कुछ ऐसा ही घटित हुआ। एक परिवार के दो भाइयो मे पारस्परिक तनाव एक सीमा से आगे तक वढ गया। समाधान के सारे मार्ग वन्द हो चुके थे। एक भाई ने अहिंसा का प्रयोग किया। उसने विना किसी शर्त के अपना आग्रह छोडा और अपने-आपको हर स्थिति के लिए समर्पित कर दिया। मैंने उससे कहा—तुम किसी वाध्यता से तो ऐसा नही कर रहे हो? वह वोला—मैं आपकी मूल्यवान् शिक्षा का छोटा-सा प्रयोग कर रहा हू। मेरा मन पूर्ण रूप से समाहित है।

दूसरे पक्ष को इस स्थिति की अवगति दी तो उस पर इसका अचूक प्रभाव पडा। किसी भी वात पर राजी नही होने वाला उसका मन द्रवित हो उठा। उसने कहा—मैं अपना आग्रह छोडता हू। दोनो ओर का आग्रह टूटा और सौहार्द का स्रोत वह चला। दोनो भाई दूध-मिश्री की तरह घुल-मिल गए।

यह है अहिंसा का ज्वलन्त प्रभाव। और भी ऐसे कई प्रसग घट जाते

है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि हिंसा मे विश्वास करने वालों ने या तो अहिंसा की शक्ति को पहचाना नही या प्रयोग नही किया, किया तो अन्तर्मन से नही किया। यदि अन्तर्मन से प्रयोग होता तो उसका परिणाम अवश्य आता।

हिसार (हरियाणा)
३ अक्टूबर, १९७३

सहना आत्म धर्म है

सामूहिक जीवन मे सुख का आधार सहिष्णुता है। जिस समूह मे सब व्यक्ति सहनशील हो, वहा अशाति नही हो सकती। सहिष्णुता हमारा आत्म-धर्म है। इसे आत्म-धर्म न माने तो भी सहना पडता है। जो व्यक्ति अधिकृत होता है उसे तो सहना ही पडता है। अधिकार जितना वडा होता है सहिष्णुता उतनी ही अधिक अपेक्षित हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो सहिष्णुता और अधिकार मे कोई अनुवन्ध हो। अधिकारी व्यक्ति सहिष्णु नही हो तो वह सफल नही हो सकता। स्वीकृत अधिकार की सफलता के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपने मन को रौदकर भी सहिष्णु वने।

किसी भी परिस्थिति को दो प्रकार से सहन किया जाता है, स्ववशता से या परवशता से। परवशता से सहना एक और नई परिस्थिति को उत्पन्न करना है। किन्तु स्ववशता से सहना वडी उपलब्धि है। यह समझने के वाद भी कभी-कभी ऐसी स्थिति सामने आती है कि वह असह्य हो जाती है और व्यक्ति अपने अधिकार से मुक्त होने की वात सोच लेता है। किन्तु जव उसे अपने दायित्व का वोध होता है, पूर्वजो की स्मृति आती है तव वह अपने धैर्य को वटोरता है। उसके चिन्तन मे कवि की ये पक्तिया अकित होती है—

विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते।
येपा न चेतासि त एव धीरा ॥

फिसलन के समय भी फिसलन न हो, विकृति के हेतु उपस्थित होने

पर भी जो विकृत न हो वही धीर है। ऐसे पद्यों की स्मृति से उसे सम्वल मिलता है और वह प्रत्येक परिस्थिति को अपनी साधना का अग मानकर सहन करता है। इसका परिणाम सुन्दर और सुखद आता है, पर वर्तमान मे ऐसा करना कठिन है। दीपक के प्रकाश से प्रकाशित होने की चाह सब मे रहती है किन्तु तिल-तिल दीपक को जलना पडता है। जलना दीपक का धर्म है इसी प्रकार सहना अधिकृत का धर्म है।

हिसार (हरियाणा)
४ अक्टूबर, १९७३

साधना में बाधाएं

मन प्रसत्ति साधना की निष्पत्ति भी है और सहायक भी। साधना काल मे जो व्यक्ति अपनी आत्मा, इन्द्रियो और मन को प्रसन्न रख पाता है, वह अच्छी साधना कर सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि साधना मे मानसिक, वाचिक या कायिक किसी प्रकार का विक्षेप न हो। वातावरण की स्वस्थता, पदार्थों की अल्पता और भोजन की सूक्ष्मता साधना को जितना वल देती है, वाह्य विक्षेप उसमे उतना ही अवरोधक है। मानसिक चिन्ता तो सवसे वडी वाधा है। यद्यपि वाह्य विक्षेप साधक की अपनी दुर्वलता है। उसका मन यदि सधा हुआ होता है तो कोई भी स्थिति विक्षेप नही वन सकती। किन्तु जव तक वह उत्कृष्ट स्थिति तक नही पहुचता है, सव स्थितियो से अप्रभावित नही रह सकता।

कल मेरे सामने एक ऐसी परिस्थिति थी, जिसे सभालना सघीय दृष्टि से अपेक्षित था। उसके लिए चिन्तन किया, समय लगाया और उसे समाहित किया। इस अतिरिक्त चिन्तन या वाह्य विक्षेप का प्रभाव अनुष्ठान पर पडा। अनुष्ठान मे शैथिल्य अनुभव हुआ। वीच-वीच मे तन्द्रा सताने लगी। तीनो समय की साधना मे दिमाग पर कुछ भारीपन रहा। आज मैं उस परिस्थिति से मुक्त हू। वही स्फूर्ति और सहजता अनुभव कर रहा हू। दिमाग हल्का है और मन प्रसन्न है।

कल और आज की अनुभूति के वाद मैं इस निर्णय पर पहुचा हू कि साधक तटस्थ द्रष्टा के रूप मे रहे। अधिक प्रसत्ति और अधिक विपाद दोनो ही साधना मे वाधक वन सकते है। इसलिए साक्षी भाव से हर परिस्थिति को पार कर देना चाहिए। इसके लिए वहुत गहरे अभ्यास की

अपेक्षा है। साधना के साथ पूर्ण तादात्म्य भाव जुडने से ही ऐसा सभव हो सकता है।

हिसार (हरियाणा)
५ अक्टूबर, १९७३

व्यक्ति और संघ

व्यक्ति दो स्तरो पर जीता है। पहला स्तर उसका व्यक्तिगत जीवन है और दूसरा सामूहिक जीवन । वैयक्तिक स्तर पर जीने वाला व्यक्ति दुविधा-मुक्त जीवन जीता है। वह अनेक-अनेक पीडाओ और चिन्ताओ से उपरत रहकर अपना निर्माण कर सकता है। किन्तु विशिष्ट साधना के अभाव मे समूह मे रहने वाला व्यक्ति 'व्यक्ति' वनकर नही रह सकता है। सव प्रकार की अपेक्षाओ और उपेक्षाओ से निरपेक्ष रहने की क्षमता जिसमे होती है, वही वैयक्तिक स्तर पर प्रशस्त जीवन जी सकता है। इस स्थिति तक पहुचने के लिए सामूहिक जीवन स्वीकार किया जाता है। आम धारणा यह है कि व्यक्तिगत साधना कठिन है। किन्तु मैं अनुभव करता हू, सघीय साधना उससे भी अधिक कठिन है। जहा सघ है वहा अनायास ही कुछ वातें जुड जाती है। व्यक्ति के सामने अपना मन, अपनी वृत्तिया और अपनी इन्द्रिया है किन्तु सघीय जीवन मे औरो के मन, औरो की वृत्तियो और इन्द्रियो को अपनी समझकर चलना होता है।

सघ मे भी जो व्यक्ति अधिकारी होता है उसका जीवन वडा समस्या-सकुलन होता है। जव तक वह व्यक्ति वनकर रहता है सर्वथा निश्चिन्त रहता है। उसके सामने कोई समस्या होती ही नही। यदि कोई स्थिति उत्पन्न हो भी जाए तो वह अपने अधिकारियो से समाधान पा लेता है। किन्तु वही व्यक्ति जव अधिकृत हो जाता है, उसकी निश्चिन्तता टूट जाती है। उसके सामने इतनी नई स्थितिया आती हैं कि पूर्व-स्थिति विस्मृति मे चली जाती है। जव तक व्यक्ति स्थानापन्न नही होता है, सम्मान और प्रतिष्ठा की चाह रह सकती है। अधिकार की भावना रह सकती है और

अपनी महत्वाकाक्षा को साकार रूप देने की इच्छा हो सकती है। किन्तु अधिकार प्राप्त होने के वाद ये सव वातें नगण्य हो जाती हैं।

राजस्थान मे एक कहावत है—'वावा ! तिलक किया ही है, सूखने से पता चलेगा।' शासन-सूत्र सभालने मे भी कुछ ऐसी ही स्थिति वनती है। किन्तु इन स्थितियों से कतराना वहुत वडी पराजय है। पराजय और मौत मे क्या अन्तर है ? जो व्यक्ति अपने अधिकार से पलायन की वात सोचता है, वह भी पुरुपार्थ-हीनता है। अधिकारी के जीवन मे विपम स्थितिंया आती ही हैं, इस वास्तविकता को समझकर सन्तुलित रहना होता है। हर परिस्थिति मे सुदृढ रहने वाला व्यक्ति ही सही जीवन जी सकता है और अपने दायित्व का निर्वाह कर सकता है।

हिसार (हरियाणा)
६ अक्टूवर, १९७२

दीर्घ जीविता का हेतु

दस धर्मों में एक धर्म है लाघव। लाघव अर्थात् हल्कापन। जो व्यक्ति मन, मस्तिष्क और शरीर से हल्का रहता है, वह स्वस्थ जीवन जीता है। हल्कापन दीर्घ-जीविता का बहुत बडा कारण है। स्वास्थ्य तो इससे मिलता ही है। भारीपन शान्ति मे बाधक है। शरीर का भारीपन भी सुखद नही है, फिर मन का भारीपन सुखद होगा ही कैसे ? अहकार और ममकार आदि वृत्तियां मन को भारी बनाती है। इससे समाधि का भग होता है और व्यक्ति मुसीबतो से दब जाता है।

जीवन मे जितना अधिक सहजता का विकास हो, उतना ही हल्कापन आता है। सहजता का साधक अपने सामने आने वाले विविध चित्रो को तटस्थ दर्शन की हैसियत से देखता है किन्तु उनमे लीन नही होता है। लयता की स्थिति ही सुखद और दु खद बनती है। आत्मलीन व्यक्ति सुखी होता है और पदार्थलीन सक्लेश भोगता है। सृष्टि की विचित्रता समाप्त नही हो सकती। विचित्रता समाप्त हो जाए तो फिर यह सृष्टि नही रह सकती। व्यक्ति स्वय सृष्टि का अग है। वह सृष्टि की विचित्रताओ मे बे-लगाव रहकर ही निर्भार जीवन जी सकता है।

निर्भारता के लिए विशेष साधना की अपेक्षा है। इसी अपेक्षा को पूरा करने के लिए वर्तमान का क्रम है। इन दिनो मैं विशेष अनुभवो की स्थिति से गुजर रहा हू। सघ की सारी दैनिक प्रवृत्तिया ज्यो-की-त्यो चल रही है। सघ का नियन्ता होने पर भी मै प्राय. निर्भार रहता हू। भारीपन की अनुभूति तभी होती है जब सहजता टूटती है। सहजता का राज है तटस्थ दर्शन अर्थात् परिस्थितियो का अस्वीकार। परिस्थितिया व्यक्ति को

भारी नही बनाती है। भारीपन का हेतु है उनकी स्वीकृति। स्वीकार और पलायन दोनो से मुक्त रहने वाला व्यक्ति ही स्वस्थ, दीर्घजीवी और सुखी बन सकता है।

हिसार (हरियाणा)
७ अक्टूबर, १९७३

मुस्कान की मिठास

मुस्कान जीवन की कला है। जो मुस्कान जानता है वही जीना जानता है। मुस्कान के अभाव मे जीवन का फूल मुरझा जाता है। मैं अपने लिए मुस्कराहट को वहुत अधिक मूल्यवान् मानता हू। मैं स्वय प्रसन्न रहना चाहता हू और अपने परिपार्श्व को प्रसन्न देखना चाहता हू। मेरी यह इच्छा रहती है कि मेरे निकट रहने वाला व्यक्ति हर क्षण प्रफुल्ल रहे। उसकी प्रफुल्लता मेरी मानसिक प्रसत्ति का हेतु वनती है और उसकी मायूसी मुझे व्यथित कर देती है। प्रसत्ति और मायूसी दोनो का ही मेरे मन पर गहरा प्रभाव होता है। कभी-कभी उससे आकृति मे भी अतर आ जाता है। यद्यपि वह अन्तर अधिक समय तक नही टिकता, पर एक वार स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है।

फूल और शूल दोनो एक ही वृक्ष के अग है। फूल वडा मनमोहक होता है क्योकि वह खिला हुआ है। शूल चुभने वाली होती है अत अच्छी नही लगती। मायूसी भी मन मे चुभन पैदा करती है, फिर यह किसी को प्रिय क्यो होगी ? मनुष्य की प्रसन्नता मुस्कान के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। खिलखिलाकर हसने की अपेक्षा आखो की मुस्कान या अधरो का स्मित अधिक प्रभावी होता है। मुस्कान की मिठास असाधारण होती है।

एक भारतीय वहिन अपने विदेशी अतिथियो को नाश्ता दे रही थी। विदेशी वहिन ने कहा—आपको अच्छी चाय वनानी नही आती है आज्ञा हो तो मैं वनाऊ। वह वहिन मुस्कान विखेरती हुई उठी। हसते-हसते चाय वनाई और मुस्कान की मधुरता के साथ सवको पिलाई। सारा वातावरण मधुरतामय वन गया। वहिन ने वताया कि चाय वनाने मे कोई विशेष

कला नही है पर इस मधुरता का रहस्य है मेरी मुस्कान।

मुस्कान स्वाभाविक स्थिति है। साधनाकाल मे भी मैं इसे विस्मृत नही कर पाता। किसी के चेहरे पर उदासीनता देखकर प्रफुल्ल रहने की प्रेरणा देता हू। प्रेरणा का असर भी होता है। प्रेरणा से प्राप्त स्थिति सहज वन जाए, यह अपेक्षित है।

हिसार (हरियाणा)
८ अक्टूवर, १९७३

एक विवशता का समाधान

प्राय मनुष्य की इन्द्रिया और मन उस पर आधिपत्य करते हैं। इन्द्रिया और मन की रुचि के अनुसार मनुष्य को जीवन का क्रम वनाना पडता है। इन्द्रियो की हर माग, चाहे वह अपेक्षित हो या अनपेक्षित, पूरी करनी होती है। शरीर को अमुक-अमुक पदार्थों की जरूरत नही है किन्तु जीभ की माग पर उन पदार्थों को खाना ही पडता है। यह मनुष्य की विवशता है कि उसका अस्तित्व इन्द्रियो और मन के अधीन हो जाता है।

साधक की गति इससे विपरीत है। वह एक विदुषी, वच्चो की परि-पालना मे दक्ष और सजग माता की तरह अपनी इन्द्रियो और मन का ध्यान रखता है। वच्चे को कव खिलाना, कहा रखना, कैसे रखना, उसके साथ कैसा व्यवहार करना ?आदि के सम्वन्ध मे माता पूरा ज्ञान रखती है, इसी प्रकार साधक भी अपने शरीर, इन्द्रियो और मन की अपेक्षाओ के वारे मे सम्यक् जानकारी रखता है। साधक की हर प्रवृत्ति समझपूर्वक होनी चाहिए अन्यथा साधना मे निखार नही आ सकता है।

हमारा वर्तमान का अनुभव बताता है कि इन्द्रियो और मन की माग को समाप्त किया जा सकता है। मैं अपने जीवन मे पहली बार एक प्रयोग कर रहा हू। इस समय इन्द्रिया निश्चिन्त है और मन शान्त है। खान-पान, शयन, जागरण, देखना-वोलना, किसी भी प्रवृत्ति के लिए मन पर वाध्यता नही है। पहले भोजन के वाद शयन आवश्यक प्रतीत हो रहा था। भोजन मे भी कुछ पदार्थो की अपेक्षा अनुभव होती थी। अव इस स्थिति के भाव या अभाव मे कोई अन्तर नही लगता है। साधना के विविध प्रयोगो के

माध्यम से साधक अपनी इन्द्रियों और मन को साधने का अभ्यास करता रहे यह अपेक्षित है।

हिसार (हरियाणा)
९ अक्टूबर, १९७३

एक अमोघ उपचार

मन प्रसत्ति शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का कारण है। इससे शरीर और मन दोनो की शक्तिया वढती है। प्रसन्नतापूर्वक कोई भी काम किया जाए उससे शक्ति का ह्रास नही होता। प्रसन्नतापूर्वक की जाने वाली साधारण तपस्या मे भी शक्ति क्षीण नही होती। इसी प्रकार खाद्य-सयम, मौन, ध्यान, जप या अन्य यौगिक क्रियाए शक्ति-सवर्धन मे सहायक वनती है।

आज मैंने दो सप्ताह के विशेप प्रयोग के वाद डॉ० वर्मा से अपने शरीर का परीक्षण करवाया। डॉ० वर्मा सन्तो के प्रति श्रद्धाशील और विनीत हैं। उन्होने प्लस देखे, व्लड प्रेसर देखा, हार्ट देखा और पूरे शरीर की जाच की। पूरे परीक्षण के वाद उन्होने कहा—आपका शरीर नॉर्मल है, आप पूर्ण स्वस्थ है। मैं जानना चाहता हू कि आप खाना क्या लेते है? मैंने उनको वताया—लगभग दो सप्ताह से अन्न वन्द है। तो आप फल काफी लेते होगे? यह डॉ० वर्मा का दूसरा प्रश्न था। मैंने कहा—फल भी विशेप नही लेता हू। दिन-भर मे तीन पाव या सेर दूध और दो-तीन केले, भोजन का यह क्रम चल रहा है। डॉक्टर महोदय विस्मित होकर वोले—आपका स्वास्थ्य विलकुल ठीक है। मुझे लगता है कि यह स्वास्थ्य शरीर की खुराक स नही मानसिक प्रसत्ति से सभव हुआ है।

मैं अपने स्वास्थ्य के प्रति सन्तुष्ट हू। यह भी मैं अनुभव करता हू कि इसमे अन्त प्रसत्ति काम कर रही है। डॉक्टर महोदय की सम्मति भी मिल गई। मैंने कहा—मैं इस क्रम से दो सप्ताह फिर रहना चाहता हू। डॉक्टर ने पुन परीक्षण के लिए कहा है। परीक्षण हो या नही यह निश्चित

है कि मन प्रसत्ति स्वास्थ्य को गिरने नही देती ।

स्वास्थ्य को लेकर सन्तोप होने पर भी मेरा ध्यान था कि कुछ वजन कम हुआ है। आज वजन करके देख लिया। पन्द्रह दिन पूर्व की स्थिति बनी हुई है। न काया मे अन्तर आया है और न छाया मे। मेरे मन मे यह धारणा निश्चित हो गई है कि मन प्रसत्ति स्वास्थ्य के लिए सबसे वडा उपचार है।

हिसार (हरियाणा)
१० अक्टूबर, १९७३

साधना और विक्षेप में द्वन्द्व

किसी भी अच्छे काम मे वाधाओ की उपस्थिति स्वाभाविक है। समय और स्थितियो के प्रभाव से वाधाए निरस्त भी हो सकती हैं और प्रवल भी। साधना वाह्य और आभ्यन्तर मव प्रकार के विक्षेपो को क्षीण करने के लिए होती है। कभी-कभी विक्षेप प्रवल होते है तो व्यक्ति पर हावी हो जाते हैं। उनका असर लम्बे समय तक रह सकता है।

साधना और विक्षेप दोनो समान स्तर पर चलते हो तो इनमे परस्पर द्वन्द्व छिड जाता है। साधना विक्षेपो को टालने का प्रयास करती है और विक्षेप साधना को दवाने मे अपनी शक्ति लगा देते है। सधे हुए साधक विक्षेपो की घाटियो को पार कर निकलने मे सफल,हो सकते है किन्तु अभ्यासी साधक वहुधा विक्षेपो से अभिभूत हो जाते है।

कल रात एक घटना घटी और मेरी रात्रिकालीन साधना मे प्रवल विक्षेप उपस्थित हो गया। उस घटना से सम्वन्धित एक व्यक्ति अपना सन्तुलन खो वैठा। वह दूसरो के नियत्रण मे नही रह सका। आखिर उसे मेरे पास लाया गया। साधना मे वैठने का समय हो रहा था। मैं उसका अतिक्रमण करना नहीं चाहता था। किन्तु करना पडा। क्योकि उस स्थिति को सभालना भी आवश्यक था। मैंने अपनी माधना को गौण कर समय उस काम मे लगाया। उसको ही साधना मानकर मैंने सकल्प किया—जव तक यह व्यक्ति सन्तुलित नही होगा, स्थिति मे सुधार नही आएगा, मैं साधना मे नही वैठूगा। लगभग एक घटा समय लगा, तव सकल्प सफल हुआ। सफलता साधना-जन्य है या विक्षेप-जन्य यह निर्णय

मैं नही दे सकता, पर जिस लक्ष्य को लेकर बैठा था, वह पूरा हो गया।

हिसार (हरियाणा)
११ अक्टूबर, १९७३

जागरण क्या है

जागरण और सुपुप्ति आत्मा की दो अवस्थाए है। आन्तरिक चेतना का विकास जागरण है और चेतना पर वाहरी आवरण सुपुप्ति है। द्रव्य-आत्मा मूल स्थिति है। जिस क्षण यह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपयोग और वीर्य के वलय मे घूमती हुई शुद्ध आत्म-स्वरूप मे परिणत होती है, यह स्थिति सम्पूर्ण जागृति की है। जिस क्षण यह वाह्य प्रवृत्तियो और कषाय के वलय मे उलझी हुई होती है, वह सुपुप्ति है।

आत्मा के सामने दो वलय है। प्रवृत्ति और कषाय का आकर्षण तीव्र होने से ज्ञान-दर्शन का वलय दूर हट जाता है। ज्ञान, दर्शन आदि से भटकी हुई आत्मा अपने अस्तित्व को विस्मृत कर देती है। विस्मृति और सुषुप्ति जागरण मे वाधा है। कपाय का वलय तभी टूट सकता है जव उसका प्रति-पक्षी वलय प्रवल हो। कपाय के वलय से मुक्त आत्मा सहज आनन्द और आलोकमय वन जाती है। मूर्च्छा की ग्रन्थि तोडकर वह जागृति मे परिणत हो जाती है।

द्रव्य, कपाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य आत्मा का यह वर्गीकरण वहुत ही रहस्यमय और युक्तिपूर्ण है। इसकी मार्मिकता और यौक्तिकता मे आत्मोदय और आत्म-पतन की गहरी दृष्टिया निहित है। इस वर्गीकरण का आधार समझ मे आने के वाद व्यक्ति अपनी जागृति और सुपुप्ति के लिए स्वय उत्तरदायी वन जाता है।

जागरण मे कुछ दूसरे निमित्त महायक वन सकते है किन्तु कव किसको कौन जगाता है यह वहुत वार अज्ञात ही रह जाता है। कभी-कभी स्वत जागरण भी होता है। व्यक्ति समझ ही नही पाता कि यह

सब कैसे घट गया ? जागरण के उन क्षणों में वह असीम आह्लाद का अनुभव करता है। काश ! वह जागरण फिर कभी सुषुप्ति से आवृत न हो।

हिसार (हरियाणा)
१२ अक्टूबर, १९७३

तन्मयता

तन्मयता लयता की स्थिति का नाम है। लयता के बिना वह तत्त्व उपलब्ध नही हो सकता जो प्राप्तव्य है। लयता बलात् नही मिल सकती क्योकि यह साधना-सापेक्ष है। तन्मयता का सम्बन्ध मन से है। मनुष्य का मन बहु-द्वन्द्वी तत्त्व है इसे सब द्वन्द्वो से मुक्त कर किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित करना बहुत कठिन है। शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही ऐसा कर सकते है। शरीर की अपेक्षा आत्मा की शक्ति प्रबल होने से तन्मयता को साधा जा सकता है।

मनुष्य का मन विघटन मे जितना जल्दी तन्मय होता है, सृजन मे नही होता। गहरी तडप होने पर भी सृजन के क्षणो मे अस्थिरता आ जाती है। कभी-कभी इस अस्थिरता को तोडने के प्रयास मे व्यक्ति अस्थिर बन जाता है। इन दिनो के मेरे अनुभव इस तथ्य के साक्षी है। मैं जप मे बैठता हू, जब तक मुख से शब्दो का उच्चारण होता है, मन स्थिर रहता है। मानो ध्वनि उसे नियन्त्रित कर लेती है। ध्वनि के बन्धन से मुक्त होते ही वागुरामुक्त अश्व की तरह वह चचल हो जाता है। वल्गा कसने का प्रयास उसे स्थिर करता है फिर भी वह किसी भागदौड के लिए तत्पर रहता है।

जिन क्षणो मे मन तन्मय होता है, एक विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है मानो अभीष्ट तत्त्व की प्राप्ति होने ही वाली है। किन्तु डोर हाथ मे आते-आते छूट जाती है। उसे पाने के लिए भटकन का व्यामोह तोडकर मन को तन्मय बनाना होगा। गहरी आस्था, लम्बा समय और अनवरत अभ्यास से तन्मयता निष्पन्न हो सकती

है। निष्कर्ष की भाषा में 'तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए, तस्सण्णा, तन्निवेसणा' ये आर्षवाक्य तन्मयता के प्रतीक हैं। हम सब इसी पथ के पथिक बनकर चल रहे है। हमारी गति मे तीव्रता आए और हम अपने लक्ष्य के निकट पहुचते रहे, यही अपेक्षा है।

हिसार (हरियाणा)
१३ अक्टूबर, १९७३

आत्मोपलब्धि की बाधा

आत्म-स्वरूप की उपलब्धि मे सबसे वडा बाधक तत्त्व है आवेग। यह आत्मा के साथ कब से अनुवन्ध स्थापित किए हुए है, कहा नही जा सकता। सच तो यह है कि इसका प्रारम्भ है ही नही। आवेग-मुक्त आत्मा ससार मे नही रहती। ससार परिभ्रमण के अनेक हेतुओ का स्रष्टा यह आवेग है। आवेग दो प्रकार का है—रागात्मक और रोषात्मक। काम का आवेग रागात्मक है और क्रोध का आवेग द्वेषात्मक है। एक अपेक्षा से ये दोनो परस्पर सम्वन्धित भी है। क्योकि राग का ऐकान्तिक अभाव रोष उत्पन्न नही होने देगा और रोष का ऐकान्तिक अभाव राग को टिकने नही देगा। राग और द्वेप की शक्ति जव तक क्षीण नही होती है, आत्मा की शक्ति प्रवल नही हो सकती।

शरीर कृश हो सकता है। इन्द्रिया क्षीण हो सकती है। इस कृशता और क्षीणता की स्थिति मे भी राग-द्वेप या काम-क्रोध का क्षीण होना जरूरी नही है। जव तक ये क्षीण नही होते है, साधना सफल नही हो सकती। जो व्यक्ति भौतिक विद्या साधने के लिए विशेष अनुष्ठान करते है वे भी आवेश-शून्य होकर साधना के लिए वैठते है। जहा अध्यात्म-विद्या का प्रश्न है, वहाँ इनको समूल नष्ट करना होगा। अन्यथा सफलता अज्ञात के गर्भ मे छिपी रहेगी। जव तक साधना की वाधाओ का अन्त नही होगा, सिद्धि प्राप्त नही हो सकेगी।

अनुष्ठान-काल मे जप-प्रयोग के साथ आवेग-क्षीणता का प्रयोग भी चल रहा है। परिस्थितिया आवेग मे निमित्त वन सकती हैं किन्तु उसकी जड वहुत गहरी है। सलक्ष्य साधना के विना उसे उखाड़ने को स्थिति

सभव नही है। मेरे अनुभव के अनुसार सकल्प-बल और भावना-योग के माध्यम से आवेगो पर विजय पाई जा सकती है।

हिसार (हरियाणा)
१४ अक्टूबर, १९७३

प्रतीक का आलम्बन

ध्यान के दो प्रकार हैं---सालम्वन और निरालम्वन। मन को पूर्ण रूप से साधने के वाद निरालम्वन ध्यान की स्थिति वहुत सुखद होती है। इस स्थिति तक पहुचने से पहले ध्यान मे आलम्वन की अपेक्षा रहती है। इस ध्यान की तरह जप भी सालम्वन होता है। जप मे प्राय मत्र या माला का आलम्वन लिया जाता है। कभी-कभी मत्र और माला का आलम्वन असफल हो जाता है तव किसी विशेष प्रतीक को सामने लाने की आवश्यकता होती है। वह प्रतीक व्यक्ति का अपना इष्ट भी हो सकता है, जिसका जप किया जा रहा है अथवा किसी दूसरे व्यक्ति पर भी मन टिकाया जा सकता है।

आज मैंने जप-अनुष्ठान मे जिस समय आलस्य का अनुभव किया, मैं खडा हो गया। खडा होने के वाद भी स्फुरणा नही आई। मन स्फूर्त नही होता है तो शरीर शिथिल हो जाता है। शरीर की श्लथता मन को प्रभावित करती है। शरीर की शिथिलता और मन की अस्थिरता समाप्त करने के लिए मैंने अपने इष्ट को प्रतीक रूप मे खडा कर लिया। परिकल्पित इष्ट पर मन टिकाया और जप एकदम जम गया। पूरे जप मे मन केन्द्रित रहा। श्लथता और अस्थिरता समाप्त हो गई। पहले की अपेक्षा अधिक स्फूर्ति का अनुभव हुआ। सदा की अपेक्षा दस मिनट पूर्व ही जप पूरा हो गया। अतिरिक्त आह्लाद की अनुभूति हुई। इस क्रम से गुजरने के वाद मैं इस निर्णय पर पहुचा कि हमारे जीवन मे आलम्वन भी एक अपेक्षित तत्त्व है। समय पर आलम्वन से वहुत वडा सम्वल मिल सकता है।

१५ अक्टूवर, १९७३
हिसार (हरियाणा)

प्रसत्ति का हेतु वनता है और अशुद्ध लेश्या जीवन की सरसता समाप्त कर देती है। साधनाशील व्यक्तियो के लिए यह वात विशेष रूप से मननीय है। साधना की ऊचाई तक पहुचने के लिए छाया की ऊचाई का ध्यान रखना आवश्यक है। हमारा आभा-मण्डल सदा पवित्र, शुद्ध तथा प्रसन्न रहेगा तो शरीर और मन भी प्रसन्न व पवित्र वन जाएगे।

हिसार (हरियाणा)
१६ अक्टूवर, १९७३

प्राप्तव्य क्या है ?

मनुष्य के लिए अनेक वस्तुए प्राप्तव्य है। उनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आनन्दोपलब्धि। मेरी दृष्टि मे आनन्द से वढकर कोई प्राप्तव्य नही है। आनन्द को उपलब्ध करने से पहले उसके वारे मे कुछ समझना आवश्यक है। जब तक मनुष्य वाह्यजगत् मे आनन्द की खोज करेगा, उसे कुछ प्राप्त नहीं हो सकेगा। आनन्द हमारे अन्तर्जगत् मे है। सत्, चित् और आनन्द— ये तीनो हमारे भीतर है। सत् अर्थात् अस्तित्व। चित्त का सम्वन्ध ज्ञान से है। जहा सत् और चित् का योग होता है वहा आनन्द स्वाभाविक है। अन्तर्जगत् मे आनन्द होने पर भी उसकी उपलब्धि आश्चर्यजनक अवश्य है, पर है तथ्यपूर्ण।

एक भिखारी की मृत्यु के वाद उस स्थान को खोदा गया, जहा वह रहता था। नीचे खजाना निकला। लोगों ने कहा—इतने वडे खजाने का स्वामी होने पर भी वह दर-दर भटकता रहा। उसकी यह भटकन अज्ञान-मूलक है हमारे भीतर भी आनन्द का अक्षय कोष है, पर वह हमे प्राप्त नहीं हुआ है। क्योंकि वह आनन्द न अध्ययन से मिलता है और न उपासना से मिलता है। उसकी उपलब्धि होती है भीतर पैठने से। 'जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ' कवीर की यह अनुभूति यथार्थ प्रतीत हो रही है। जिस व्यक्ति के मन मे आनन्द की अभीप्सा है उसे अपने भीतर झाकना ही होगा।

कुछ व्यक्ति चाहने पर भी अन्तर्जगत् की यात्रा नही कर सकते। कारण उन्हे उस यात्रा के गुर (सुगम पद्धति) ज्ञात नहीं है। आज की स्थिति यह है कि आत्म-विद्या या आनन्द-प्राप्ति के गुर विलुप्त है। हमारा

धर्मसघ उनकी खोज मे लगा है। मैं स्वय भी इसके लिए प्रयत्नशील हू। कुछ तथ्य उपलब्ध भी हुए है पर उपलब्धि की गति मन्द है। फिर भी मेरा विश्वास प्रबल हो रहा है कि एक दिन हम अपने प्राप्तव्य को प्राप्त करके रहेगे।

हिसार (हरियाणा)
१६ अक्टूबर, १९७३

आस्था का निर्माण

किसी भी कार्य की सफलता का रहस्य उसके प्रति व्यक्ति की आस्था-शीलता पर निर्भर है। साधना के क्षेत्र मे भी व्यक्तिगत आस्था का निर्माण वहुत अपेक्षित है। आस्था के अभाव मे वहुत सारे प्रवचन, वाचन, शिक्षण और प्रशिक्षण कार्यकर नही होते। आस्था उत्पन्न होने के वाद थोडी-सी प्रेरणा से वहुत वडा काम हो जाता है। मेरे अभिमत से व्यक्ति का निर्माण जितना कठिन नही, उतना कठिन है आस्था का निर्माण। आस्था का निर्माण होने के वाद व्यक्ति का निर्माण सहज हो जाता है।

आज राष्ट्र के सामने अन्यान्य सकटो के साथ चरित्र का सकट प्रवल हो रहा है। इस सकट से देश की स्थिति चिन्तनीय वन रही है। क्यो? इस प्रश्न के समाधान मे आस्थाहीनता की वात सामने आती है। जनता मे चरित्र के प्रति जो आस्था होनी चाहिए वह टूट रही है। इस टूटती हुई आस्था को सुरक्षित रखने के लिए शासक कोटि के व्यक्तियो को चरित्र-निष्ठ वनना होगा। उनमें जव तक चरित्र का अभाव रहेगा जनता का चारित्रिक स्तर उन्नत नही हो पाएगा।

चरित्र-हीनता की स्थिति से आज सव लोग आतकित है। धर्म और कानून दोनो माध्यमो से चरित्र-विकास की चर्चा भी चल रही है किन्तु आस्था के अभाव मे उसका कोई परिणाम नही आता। जिस दिन आस्था के वीज अकुरित होगे, जनता का जीवन-स्तर स्वय ऊचा उठ जाएगा। मै अपने इस साधना-काल मे आस्था के वारे मे सोचता रहा हू। मेरे मन मे इस अनुष्ठान के प्रति गहरा आस्थाभाव पैदा हुआ है। मै इसे एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार करता हू।

हिसार (हरियाणा)
२० अक्टूबर, १९७३

जप, साधना और कायोत्सर्ग

जप, ध्यान और कायोत्सर्ग आत्मस्थता के सवल साधन है। जप का अर्थ है किसी वाक्य, पद या मंत्र का पुनरावर्तन। ध्यान अर्थात् किसी एक आलबन पर मन को टिकाकर किसी निश्चित विपय की लयवद्ध चिन्तना। शारीरिक प्रवृत्तियो के विसर्जन का नाम है कायोत्सर्ग। ये तीनो साधना के अग है। तीनो का अपने-अपने स्थान पर विशेप महत्त्व है। मेरे अनुभव से इनमे जप सवसे अधिक सुगम है और प्राथमिक अभ्यास की दृष्टि से उत्तम भी है। कभी-कभी जप के माध्यम से ध्यान और कायोत्सर्ग की स्थिति तक पहुचा जा सकता है।

जप के तीन प्रकार हैं—वाचिक, उपाशु और मानसिक। वाचिक जप मे शव्दो का उच्चारण होता है। उपाशु जप मे शव्दोच्चारण होता है पर वह इतना सूक्ष्म होता है कि किसी को सुनाई नही देता। मानसिक जप मे शव्दो का उच्चारण नही होता। स्थूल रूप से यह स्थिति ध्यान की समकक्षता मे चली जाती है किन्तु इन दोनो मे अन्तर है। मानसिक जप मे उच्चारण नही होता पर पुनरावर्तन होता है। ध्यान मे उच्चारण और पुनरावर्तन दोनो नही होते। जप ध्यान नही है किन्तु एकाग्रता होने के वाद वह उस कोटि मे चला जाता है। जप से वचन-शुद्धि होती है, मन-शुद्धि होती है और वातावरण-शुद्धि होती है।

कुछ व्यक्ति सीधे ध्यान की सीढी पर चढना चाहते है, किन्तु जप की सीढी को लाघकर सीधे वहा पहुचने मे कठिनाई है। ऐसे व्यक्ति प्राय असफल हो जाते है। जप के माध्यम से ध्यान तक पहुचने मे काफी सुविधा रहती है। ध्यान और कायोत्सर्ग मे भी अन्तर है। ध्यान मे कायिक,

वाचिक और मानसिक तीनो प्रवृत्तियो का निरोध होता है। जबकि कायोत्सर्ग मे कायिक प्रवृत्ति का विसर्जन मुख्य है। साधना के क्षेत्र मे जप ध्यान और कायोत्सर्ग तीनो का अपना-अपना मूल्य है।

हिसार (हरियाणा)
२१ अक्टूबर, १९७३

खोना और पाना

आज प्रात. ध्यान करके उठा, तत्काल कुछ आलोक का आभास हुआ। मैंने अनुभव किया, रात का गहरा अन्धकार क्षीण हो रहा है। विघ्न वाधाए अपने आप विलीन हो रही है। मेरे चारो ओर प्रकाश विखर रहा है। उस प्रकाश की परिधि मे मुझे अपूर्व उल्लास की अनुभूति हुई। पिछले कई दिनो से ध्यान, जप आदि की विशेप साधना कर रहा हू, किन्तु ऐसा उल्लास कभी नही मिला। उस समय एक विशिष्ट स्फूर्ति, जागृति और मानसिक प्रसत्ति मे मैं आकण्ठ निमग्न हो गया। इस अनुष्ठान का कोई प्रत्यक्ष परिणाम सामने आ रहा है, ऐसी प्रतीति हुई।

साधना के इन दृश्य-परिणामो मे मेरी अधिक आस्था नही है। दृश्य-परिणाम के लिए साधना होनी भी नही चाहिए। इस दृष्टि से जो साधना होती है वह एक सीमा तक पहुचकर अवरुद्ध हो जाती है। फिर भी यह वात सही है कि साधना से आत्मोपलब्धि के साथ वाह्य उपलब्धि भी होती है। इसके प्रति साधक की जितनी निरपेक्षता होगी उतनी अधिक उपलब्धि होगी। आसक्ति और प्रदर्शन की भावना उपलब्धि मे वाधक है। प्राप्त होने वाली उपलब्धियो के प्रति अनासक्त रहना तथा भौतिक उपलब्धि की कामना नही करना वहुत ही कठिन स्थिति है। मनुष्य का मन इतना भावुक है कि उसके लिए भौतिक आकर्पण को तोडना दुष्कर है। किन्तु 'जो खोएगा वह पाएगा' यह तथ्य भी असदिग्ध रूप से सत्य है। यदि हमे कुछ पाना है, अपनी अस्मिता और अभीप्सा को खोना ही होगा। उनकी उपस्थिति मे हम अपने आपको नही पा सकेगे।

हिसार (हरियाणा)
२२ अक्टूवर, १९७३

भारहीनता का अनुभव

क्या आज सचमुच ही अनुष्ठान-सम्पन्नता का दिन है ? लगता है, जैसे कल परसो ही यह क्रम प्रारम्भ किया था। जिस दिन अनुष्ठान प्रारम्भ किया था तव अनेक व्यक्तियो ने कहा--चार सप्ताह का क्रम वहुत लम्वा है। एक-दो सप्ताह ही चल जाए तो अच्छा है। मैने कहा—समय लम्वा है, फिर भी अनुष्ठान करना ही है। अनुष्ठान प्रारम्भ किया और लगा कुछ जादू-सा हो रहा है। इस काल मे मैंने कुछ अपूर्वता का अनुभव किया। उस अपूर्वता को अभिव्यक्ति देने की क्षमता मेरे शब्दों मे नही है।

अनुष्ठान-काल मे अन्न न लेने पर भी शारीरिक भारहीनता विशेप नही हुई, पर मानसिक भारहीनता अवश्य हुई है। राकेट द्वारा ऊर्ध्वगति करने वाले व्यक्ति भारहीनता का अनुभव करते है। ऊर्ध्वगामिता के साथ भारहीनता स्वाभाविक ही है। माधना के द्वारा जो ऊर्ध्वगमन प्राप्त होता है वह आन्तरिक भारहीनता मे सहयोगी वनता है।

साधना मे व्यक्ति की मन स्थिति के साथ वाह्य वातावरण का भी गहरा प्रभाव होता है। वाह्य साधनो मे व्यक्ति का आभा-मण्डल सर्वाधिक प्रभावशाली है। इस वार मेरी साधना मे मेरे आभा-मण्डल पर मैंने विशेप ध्यान दिया। मेरी सजगता से वह स्वस्थ वना और मुझे अपनी साधना मे उसका विशेप सहयोग प्राप्त हुआ। इसलिए मे इसके प्रति आस्थावान वना हू। आभा-मण्डल या ओरा-शरीर के सम्वन्ध मे वैज्ञानिक मान्यताए भी स्पष्ट है। मैंने अव दृढ निश्चय कर लिया है कि अपने

ओरा-शरीर को अधिक-से-अधिक विशुद्ध बनाना है और अपनी साधना को आगे बढाना है।

हिसार (हरियाणा)
२३ अक्टूबर, १९७३

जीवन की रमणीयता

हर मनुष्य के मन मे कुछ नया काम करने की इच्छा होती है। क्षण-क्षण मे नवता को प्राप्त करना ही रमणीयता है। रमणीय जीवन ही जीवन है। नवता से मेरा अभिप्राय यह नही है कि आवश्यक-अनावश्यक, उचित-अनुचित कुछ भी किया जाए। जिस नवीनता के साथ औचित्य और उपयोगिता की पुट हो, वही कार्यकर हो सकता है।

मैं वहुत दिनो से सोचता था कि जीवन मे कोई ऐसा परिवर्तन आना चाहिए जो स्वय मेरे लिए तथा दूसरो के लिए भी प्रेरणादायी हो। केवल ढर्रे का जीवन जीना, यन्त्र की तरह निश्चित दिनचर्या का होना किसी भी चिन्तनशील व्यक्ति को प्रिय नही होता। इस दृष्टि से मैंने अपने जीवन को उत्तरोत्तर सशोधित पाया है। इस चातुर्मास मे भी एक नया काम होना था। अन्त स्फुरित प्रेरणा से, नियति से या किसी वाह्य निमित्त से एक क्रम वना और मैंने एक प्रकार की साधना के लिए निर्णय ले लिया।

अपने व्यक्तिगत निर्णय को मैंने सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी, मुनि नथमलजी और साध्वी कनकप्रभा के सामने रखा। उनकी सहमति और प्रोत्साहन से मुझे अधिक वल मिला। मुनि नथमलजी पहले से ही ऐसा चाहते थे अत वे इस क्रम की व्यवस्थित आयोजना मे लग गए। साधना का प्रारूप तैयार होने के वाद मैंने इसकी व्यवस्थित घोपणा कर दी। वाहर से आने वाले यात्रियो को किसी प्रकार की दुविधा न हो इस दृष्टि से कमलेश ने विज्ञप्ति के माध्यम से यह सूचना सव स्थानो मे प्रसारित कर दी।

पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार २७ सितम्वर से साधना प्रारम्भ

की। उसी दिन एक चिन्तन आया कि साधनाकाल के सस्मरण लिखने चाहिए। जिस दिन जो अनुभव या चिन्तन प्रस्फुटित हुआ, लेखनी की सीमाओ मे आवद्ध होकर स्थिर हो गया। आज इस विशेप अनुप्ठान की निर्विघ्न समाप्ति हो गई है। साधनाकाल मे मैने विशेप उल्लास का अनुभव किया और अब भविष्य को अधिक प्रशस्त देख रहा हू।

इस चार सप्ताह की अवधि मे अनेक व्यक्तियो ने मेरा साथ दिया है। साधु-साध्वियो ने भी सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से विशेप अनुष्ठान किए हैं। अनुप्ठान के प्रथम दिन से ही साध्वियो ने वरावर सामूहिक जप किया है। अनुप्ठान की सम्पन्नता मे सामूहिक रूप से 'तीन दिन का उपवास' अपने आप मे नया प्रयोग है। नए-नए प्रयोग और नई-नई उपलब्धियो के क्षणो मे हम साधना के नए-नए आयाम खोलते रहेगे, ऐसा विश्वास है।

हिसार (हरियाणा)
२४ अक्टूबर, १९७३

□□